दिनकर काव्य के साहित्यिक स्रोतों
का
अध्ययन

हैदराबाद विश्वविद्यालय, पी. एच-डी. (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत
शोध–प्रबन्ध

1996

प्रस्तुतकर्ता :
आर. श्रीनिवास राव पात्रो,
एम. फिल्

अध्यक्ष :
प्रो० वेंकटरमण राव,
एम. ए (हिन्दी, तेलुगु) पी. एच. डी.
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
हैदराबाद विश्वविद्यालय,
हैदराबाद–500 046 (आँ. प्र.)

निर्देशक :
प्रो० विजेन्द्र नारायण सिंह,
डी लिट्
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
हैदराबाद विश्वविद्यालय,
हैदराबाद–500 046 (आँ. प्र.)

Name of the research scholar: R. Srini Vasa Rao Patro

Department / Centre: Hindi - Humanities.

University of Hyderabad

This is to certify that I, R. Srini Vasa Rao Patro have carried out the research embodied in the present thesis for the full period prescribed under the Ph.D. Ordinances of the University.

Title: Dinkar ke Sahityak Srotho ka aadhyan.

I declare that no part of this thesis was earlier submitted for the award of any research degree or diploma to any university.

DATE: 5/1/97

R. Srini Vasa Rao Patro
SIGNATURE

B. N. Sinha 7/1/1997
(RESEARCH SUPERVISOR)

7/1/97
(HEAD OF DEPARTMENT/~~CENTRE~~)

Head, Dept. of Hindi
School of Humanities
University of Hyderabad
HYDERABAD-500 134

7/1/97
(DEAN OF SCHOOL)

DEAN
SCHOOL OF HUMANITIES
University of Hyderabad.
Hyderabad-500 134

D E C L A R A T I O N

I herby declare that this thesis entitiled **"Dinkar kavye ke sahityak srotho ka Aadhyan"** has been written by me during 1993-96 under the supervision of Dr.B.N.Sinha, senior professor,Department of Hindi,University of Hyderabad in partial fulfilment of the requirement for the award of Ph.D Degree.

I also declare that this is the result of my own effort and has not been submitted to any other University,before,any Degree or Diploma.

R. Srinivasa Rao Patro

Place : Hyderabad.

Date : 5/1/97

R.Srinivasarao Patro

Reg.No: 92 HHPH 09

गुरुवर

प्रो. विजेन्द्रनारायण सिंह

को

सादर समर्पित

भूमिका

प्राक्कथन

कवि एक सामाजिक प्राणी है। इसलिए उस पर अपने समाज की युगीन परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है और वह अपने समाज से प्रेरणा पाकर साथ ही अपनी युगीन परिस्थितोयों को आत्मसात कर समाज में फैली कुप्रथाओं का विरोध कर अपने वर्तमान को सुधारने का प्रयत्न अपने रचनाओं द्वारा करता है, इसके लिए वह अपने अतीत से प्रेरणा लेता है। इतिहास की गतिविधि से उनको प्रेरणा तो मिलती है पर अतीत के प्रति ऐसा मोह नहीं जगता जो उन्हें वर्तमान के अनुभवों के संबंध में कुछ बाधा पहुंचाएं। वर्तमान भी उनके लिए प्रेरणा दायक है जितना अतीत। अतीत तो वस्तुत: उनके लिए वर्तमान को समझने की दृष्टि मात्र है। वर्तमान का आग्रह और उसके साथ कवि के विचार और भावमिश्रत तादाम्य उनके व्यक्तित्व को प्रभावित करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दिनकर जी पर पूर्ववर्ती एवं समकालीन रचनाकारों की प्रेरणा स्पष्ट दिखाई देती है। उन पर तुलसी और कबीर का प्रभाव था। उनके संस्कार तुलसी और कबीर की सहज गंभीरता तथा प्रसाद के गुण आदि थे। तुलसी समन वयवादी थे, यही प्रेरणा दिनकर जी को मिली।

दिनकर के काव्य की मूल चेतना तीन धाराओं में बही है - प्रेम कल्पना और सौंदर्य से युक्त श्रृंगार भावना, ओज से युक्त राष्ट्रीयता और शांत या निर्वेद का भाव। उनकी कृतियां एक ओर जहां द्विवेदी युग की स्पष्टता, अतीत के प्रति मोह और राष्ट्र प्रेम की भावनाएंहित हैं वहीं दूसरी ओर छायावादी कवियों का सौंदर्य प्रेम एवं प्रकृति प्रेम और प्रगतिवादी काव्य का मार्क्स समर्थन, शोषक के प्रति विरक्ति, रूढ़ि विरोध, श्रमिक वर्ग से सहानुभूति, क्रांति प्रेम तथा यथार्थप्रियता भी मिलती हैं। यहां दिनकर को भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त तथा रामनरेश त्रिपाठी, सुभद्रा कुमारी चौहान, माखनलाल चतुर्वेदी

और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' से साहित्य रचना करने की प्रेरणा मिली। उन्हें अंग्रेजी कवियों में शैले, वर्ड्सवर्थ तथा भारतीय कवियों में रवीन्द्रनाथ तथा इकबाल से प्रेरणा ली। दिनकर का जीवन-दर्शन सभी दर्शनों का सार है, उसमें गांधी की करुणा और सेवा भाव, अरविंद का समन्वयवाद, विवेकानंद का अंतर्राष्ट्रीयवाद, मार्क्स का समाजवाद और रसैल की शांतिवादी विचारधारा सभी कुछ समाविष्ट है।

आर्य समाज के प्रवर्तक दयानंद का भी प्रभाव दृष्टिगत होता है। उन्हें राष्ट्रीय काव्य लिखने की प्रेरणा तिलक और गांधी से मिली है। हालांकि दिनकर ने गांधी जी के अहिंसावाद की पर्याप्त आलोचना की है फिर भी अपने समन्वयवादी स्वभाव के कारण उनके प्रभाव से अछूत न रह सकें। दिनकर जी इतिहास के विद्यार्थी थे। अतः क्रांतिकारी घटनाओं की प्रेरणा उन्हें इतिहास से मिली। चंद्रशेखर आजाद, बिस्मिल, भगतसिंह, सुभाषचंद्र बोस और तिलक से प्रेरित होकर इन्होंने साम्राज्यवाद के विरुद्ध क्रांति की आवाज उठाई थी। नजरुल इस्लाम तथा मैथिलीशरण गुप्त की क्रांतिकारिता तथा ओजस्विनी वाणी से प्रेरित होकर दिनकर जी शांति के विरोधी बन बैठे और उनके काव्य में विद्रोह की ज्वाला उठी।

आधुनिक युग में क्रांति का बीज बोने का श्रेय चिंतकों को अधिक है। इन चिंतकों में बेकन,न्यूट्रन, हॉब्स, कार्लमार्क्स, टालस्टाय और गांधी जी प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त विश्व की महान क्रांतियों में उल्लेखनीय हैं - औद्योगिक क्रांति, फ्रांसीसी क्रांति, रूसी क्रांति, भारतीय इतिहास की क्रांति आदि। धार्मिक जागरण की प्रेरणा दिनकर जी पर परिलक्षित होती है। उन्होंने अपनी जागरण कविताओं में युग के अनुरूप धर्म के क्रांतिकारी तत्वों का अन्वेषण किया। कार्लमार्क्स के विचारों का सर्वाधिक प्रभाव दिनकर के काव्य में परिलक्षित होता है। पूंजीपति वर्ग द्वारा शोषण के विरुद्ध क्रांति के बीज भी मार्क्स ने बोये थें जिसका समर्थन दिनकर जी ने किया।

अध्ययन की सुविधा के लिए इस लघु शोध प्रबंध को चार अध्यायों में विभक्त किया है। प्रथम अध्याय 'सर्जनात्मक परिवेश' जिसमें दिनकर के युग परिवेश जैसे भारतीय नवजागरण, विभिन्न आंदोलनों एवं राष्ट्रीय चेतना आदि पर विचार किया गया है।

द्वितीय अध्याय 'सर्जनात्मक परिवेश' में विश्व के महान क्रांतियों एवं वादों जैसे रूसी क्रांति, मार्क्सवाद, अराजकतावाद, उपनिवेशवाद, गांधीवाद आदि पर विवेचन किया गया है और उन्होंने जिस तरह से दिनकर को प्रभावित किया उसकी अभिव्यक्ति दिनकर के काव्य में कैसे हुई आदि पर विचार किया गया है।

तृतीय अध्याय में दिनकर के वैचारिक स्त्रोतों पर अवलोकन किया गया है। इसमें विवेकानंद, बालगंगाधर तिलक, महार्षि अरविंद, महात्मा गांधी, लारेन्स आदि की चर्चा की गई है।

चतुर्थ अध्याय में दिनकर के साहित्यिक स्त्रोतों पर विचार किया गया है इसके अन्तर्गत रवीन्द्रनाथ ठाकुर, नजरुल इस्लाम, मुहम्मद इकबाल आदि पर विचार किया गया।

उपसंहार में दिनकर जी के काव्यों के विविध स्त्रोतों का अध्ययन और उपलब्धियों एवं सीमाओं को रेखांकित किया गया है। अंत में सहायक ग्रंथों की सूची संलग्न है।

कृतज्ञता - ज्ञापन

इस शोध-साधना में अनेक विद्वानों के सौजन्य का प्रसाद मुझे प्राप्त हुआ है। अपने पूज्यनीय गुरू डॉ. विजेन्द्रनारायण सिंह जी, वरिष्ठ प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, केन्द्रीय विश्वविद्‌यालय हैदराबाद के प्रति आभार निवेदित कर पाना शब्दातीत है। उनके जीवन दर्शन, स्पष्ट चिंतन और प्रोत्साहन के लिए जो मैंने उनसे अनुसंधान काल में प्राप्त किया उनके लिए अत्यंत आभारी हूँ। यह सम्पूर्ण शोधकार्य उन्हीं की महती कृपा का फल है।

अन्य मानस गुरूओं में ममता और स्नेह के अद्‌भूत आगार डॉ. वेंकटरमण राव जी (प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, केन्द्रीय विश्वविद्‌यालय हैदराबाद), परम आदरणीय श्री पी लक्ष्मण शर्मा (प्राचार्य जे बी के, हिन्दी विद्‌यालय, श्रीकाकुलम), ऋषितुल्य पूज्य स्व. डॉ. रामुलु जी (रीडर, हिन्दी विभाग, केन्द्रीय विश्वविद्‌यालय हैदराबाद) तथा गुरूवर श्री पी ए नायुडू (रीडर एवं विभागाध्यक्ष, गवर्नमेन्ट कालेज श्रीकाकुलम) इन चारों के ऋण से भी उऋण होना न तो संभव हैं और न ही मेरी ऐसी आकांक्षा है। शोध कार्य के मार्ग की अथाह बाधाओं के सागर-संतरण में इन्होंने जो सहयोग दिया उसे मैं कभी विस्मृत नहीं कर सकता। इनके अतिरिक्त शैक्षणिक जीवन के तथा विशेष रूप से विश्वविद्‌यालय में अध्यापन कार्य में निरत उन सभी गुरूजनों के प्रति भी मैं श्रद्धावान हूं जिनसे मुझे प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में शोध दिशा में सहयोग एवं प्रेरणा मिली।

परम आत्मीय बंधु श्री सुधाकर जी, प्राचार्य, डी ए वी कॉलेज, रामगुंडम का भी मैं कृतज्ञ हुं। उनका समुचित परामर्श सब दिन मेरा मार्गदर्शन करता रहेगा।

मित्रों में चंद्रमोहन, गीता कल्याणी, कृष्णकुमार सिंह, मधुकर जाधव, किशोर कुमार, अरूण कुमार, सुभाषचंद्र, किरण, पाशा, धवन, पद्मनाभ, जयपाल, हेमंत, जिलानी, रमेश, अजिताब, सागर, लाल आदि को विशेष रूप से धन्यवाद ज्ञापन करना चाहता हुं जिनके तकादे बड़े काम के रहें। मित्रों को धन्यवाद से क्या प्रयोजन ? खैर यह औपचारिकताएं तो हमें निभानी होगी।

परिवार के स्वजनों विशेषकर अपने माता-पिता के स्नेह के सहारे ही तो प्रबंध पूरा कर सका हूं। उनका स्नेह ही मेरा सबसे बड़ा संबल है। अपने भाई-बहनों व अन्य जिन व्यक्तियों से किसी भी तरह सहायता मिली है, मैं उनके प्रति आभार प्रकट करता हूं।

अंत में मैं उन सभी गुरूजनों, मित्रों एवं शुभचिंतकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूं जिनकी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष शुभकामनाओं का मैं ऋणी हूं।

आर. श्रीनिवास पात्रो

विषयानुक्रमणिका

विषय सूची

अध्याय	विषय	पृ॰ संख्या
प्रथम अध्याय	सर्जनात्मक परिवेश	
1·	भारतीय नवजागरण	1
	1·1· अतीत प्रियता का विकास	
	1·2· इतिहास प्रेम	
	1·3· प्रवृत्ति का उत्थान	
	1·4· ग्राहस्थ के प्रति आकर्षण	
	1·5· सामाजिक और धार्मिक क्रांति	
	1·6· नयी शिक्षा के वैज्ञानिक और तर्कवादी मूल्य	
1·2·	सामाजिक आन्दोलन	10
	1·2·1· सती प्रथा का विरोध	
	1·2·2· ब्रह्म समाज	
	1·2·3· आर्य समाज	
	1·2·4· प्रार्थना समाज	
1·3·	राष्ट्रीय चेतना	16
	1·3·1· अतीत के प्रति आकर्षण	
	1·3·2· वर्तमान के प्रति असन्तोष	
	1·3·3· स्वर्णिम भविष्य की कामना	
1·4·	प्रवृत्ति का उत्थान	30

अध्याय	विषय	पृ॰ संख्या
1·5·	स्वच्छन्दतावाद	34
1·6·	छायावाद के खिलाफ विद्रोह	36
	1·6·1· कवियों का आत्म निवेदन	
	1·6·2· जनरुचि को अवहेलना	
	1·6·3· लोक संवेदना का तिरस्कार	
	1·6·4· सामाजिक समस्याओं को अवहेलना	
	1·6·5· छायावादी पक्ष में अभिव्यक्ति पक्ष की कमजोरी	
	निष्कर्ष	
द्वितीय अध्याय	सर्जनात्मक संघर्ष	44
2·1·	रूसी क्रांति	45
	2·1·2· दिनकर पर रूसी क्रान्ति का प्रभाव	
2·2·	मार्क्सवाद	49
	2·2·1· द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद	
	2·2·2· ऐतिहासिक भौतिकवाद	
	2·2·2·1· उत्पादन पध्दति का सामूहिकीकरण	
	(क) आदिम साम्यवाद युग	
	(ख) दासयुग	
	(ग) सामान्त युग	
	(घ) पूंजीवादी युग तथा	
	(च) समाजवादी युग	

अध्याय	विषय	पृ॰संख्या
	2·2·2·2· वर्ग संघर्ष एवं क्रान्ति के सिद्धान्त	
	2·2·2·3· सर्वहारा अधिनायकत्व या एकाधिपत्य	
	2·2·2·4· राजसत्ता के लोप और वर्गविहीन समाज की अवधारणा	
	2·2·3· मार्क्स की साहित्यिक मान्यताएँ	
	2·2·4· हिन्दी काव्य में मार्क्सवादी विचारधारा	
	2·2·5· दिनकर के काव्य में मार्क्सवादी दर्शन	
	(क) वर्ग वैषम्य और वर्ग संघर्ष की प्रवृत्ति	
	(ख) क्रान्तिमत चेतना	
	(ग) शोषित एवं दलित वर्ग के प्रति सहानुभूति	
	(घ) शोषण के विरुद्ध युद्ध और हिंसा की स्वीकृति	
2·3·	आतंकवादी आन्दोलन	65
	2·3·1· अराजकतावाद और दिनकर	
2·4·	उपनिवेशवाद	74
	2·4·1· दिनकर के काव्य में उपनिवेशवाद का विरोध	
2·5·	गांधीवाद	82
	2·5·1· अध्यात्मिक विचार धारा सत्य और अहिंसा	
	2·5·2· धार्मिक विचारधारा	
	2·5·3· सामाजिक विचारधारा	
	2·5·4· आर्थिक विचारधारा	
	2·5·5· राजनीतिक विचारधारा	

अध्याय	विषय	पृ॰संख्या
2·6·	दिनकर के काव्य में गाँधीवाद	
	(क) अध्यात्मिक विचारधारा	
	सत्य और अहिंसा	
	(ख) धार्मिक विचारधारा	
	(ग) सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना	
	(घ) नारी जीवन स्थिति सुधार	
	(च) रामराज्य का प्रभाव	
	(छ) गाँधीवादी मानवतावाद	
	(ज) कर्मयोग	
	(झ) लोक संग्रह की भावना	
	(ट) सच्चे प्रेमी	
	निष्कर्ष	103
तृतीय अध्याय	वैचारिक स्रोतों की तलाश	
3·1·	स्वामी विवेकानन्द और दिनकर	104
	3·1·1· विवेकानन्द का धार्मिक दृष्टिकोण	
	3·1·2· संस्कृति	
	3·1·3· प्रवृत्ति-निवृत्ति	
	3·1·4· मानवतावाद	
	निष्कर्ष	

अध्याय	विषय	पृ. संख्या
3.2.	लोकमान्य तिलक और दिनकर	123
	3.2.1. कर्म मार्ग	
	3.2.2. प्रवृत्ति और निवृत्ति	
	निष्कर्ष	
3.3.	अरविन्द और दिनकर	131
	3.3.1. पुनर्जन्म	
	3.3.2. ब्रह्म	
	3.3.3. जीव	
	3.3.4. जड़-चेतन	
	3.3.5. माया की अवधारणा	
	निष्कर्ष	
3.4.	लारेंस और दिनकर	147
	3.4.1. कामचेतना	
	3.4.2. दिनकर के काव्य में लारेंस के विचारों की अभिव्यक्ति	
	निष्कर्ष	

अध्याय	विषय	पृ. संख्या
चतुर्थ अध्याय	साहित्यिक स्रोतों की तलाश	161

4.1. रवीन्द्रनाथ ठाकुर और दिनकर

4.1.1. रवीन्द्रनाथ ठाकुर की युगभूमि

4.1.2. रवीन्द्र का दार्शनिक चिन्तन

4.1.3. रवीन्द्र की राष्ट्रीयता

4.1.4. रवीन्द्र और दिनकर के काव्य में उपलब्ध मानवतावादी चेतना

4.1.5. अंतर्राष्ट्रीय भावना

4.1.6. स्वच्छन्दतावाद

(क) सौन्दर्य

(ख) रहस्यवादी भावना

(ग) सामाजिक यथार्थ

निष्कर्ष

4.2. काजी नजरूल इस्लाम और दिनकर 198

4.2.1. दिनकर और नजरूल की युगभूमि तथा तत्कालीन साहित्यधारा

4.2.2. राष्ट्रीय भावना

(क) वर्तमान के प्रति क्षोभ

(ख) अतीत का गौरव गान

(ग) विद्रोह की आकांक्षा

निष्कर्ष

अध्याय	विषय	पृ॰संख्या
4·3·	मुहम्मद इकबाल और दिनकर	210
4·3·1·	नवोत्थान के कवि	
4·3·2·	प्रवृत्ति का समर्थक	
4·3·3·	दिनकर और इकाबल के काव्य में राष्ट्रीयता के भाव	
4·3·3·1·	मातृभूमि से प्रेम	
4·3·3·2·	हिमालय के प्रति इकबाल और दिनकर की भावना	
4·3·3·3·	अतीत का स्वर	
4·3·3·4·	वर्तमान दुर्दशा का चित्रण	
4·3·4	इकबाल का जीवन दर्शन	
4·3·4·1·	इकबाल के काव्य में ब्रह्म का स्वरुप	
4·3·4·2·	जगत सम्बन्धी दृष्टिकोण	
4·3·4·3·	मानव एवं उसकी महानता सम्बन्धी दृष्टिकोण	
4·3·5·	दिनकर के काव्य में दर्शन	
	निष्कर्ष	230
उपसंहार		236
परिशिष्ट		239

प्रथम अध्याय

सर्जनात्मक परिवेश

1

सर्जनात्मक परिवेश

1. भारतीय नवजागरण :-

उन्नीसवी सदी को भारतीय नवजागरण का काल कहा गया है । पुनर्जागरण ने एक राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप धारण कर लेने से पूर्व अनेक सामाजिक-धार्मिक सुधार आन्दोलनों का सूत्रपात किया । राजाराम मोहन राय, देवेन्द्र नाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन, महादेव गोविन्द रानडे महात्मा फुले, स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर एवं महर्षि अरविन्द आदि सुधारक नेताओं ने ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, थियोसोफिकल सोसायटी एवं रामकृष्ण मिशन आदि के द्वारा प्राचीन मान्यताओं को नवीन लोकतान्त्रिक आदर्शों से समन्वित कर नये समाज के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया । इन सुधारक नेताओं ने समाज में व्याप्त अंधविश्वास को दूर कर प्रत्येक वस्तु को तर्क, विवेक, एवं विज्ञान के प्रकाश में देखना सिखाया । उन्होंने राष्ट्रीय अध: पतन की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाया और सामाजिक-मानसिक व आध्यात्मिक दुर्बलता को दूर करके पुनर्जागरण का सन्देश दिया । सुधार आन्दोलनों

ने धर्म व समाज की एकता और संगठन को जन्म दिया । भारतीयों के हृदय में अतीत का गौरवपूर्ण चित्र प्रस्तुत कर भविष्य के स्वातन्त्र्य-संघर्ष के लिये पृष्ठभूमि तैयार की । इन आन्दोलनों ने आत्महीनता की भावना से पीड़ित भारतीयों में स्व-संस्कृति के प्रति निष्ठा एवं नवीन विश्वास का संचार किया । इन्हीं आन्दोलनों ने समाज एवं धर्म की परम्परित मान्यताओं की नवीन व्याख्या की, क्योंकि अंग्रेजी के आने से जिस गुलामी ने देश को जड़ीभूत करना आरम्भ कर दिया था उसी ने संस्कृत उन्नयकों को अपना इतिहास खोजने तथा रूढ़ियों पर प्रश्नचिह्न लगाने के लिए विवश किया । भारतीयों के हृदय में अतीत का गौरवपूर्ण चित्र प्रस्तुत कर भविष्य के स्वातन्त्र्य संघर्ष के लिये पृष्ठभूमि तैयार की । अंग्रेजी शिक्षा, ज्ञान-विज्ञान संयोग से धार्मिक सामाजिक कुरीतियों का उन्मूलन, मध्यकालीन जीवन दर्शन की निवृत्ति तथा अतिशय भोग परक जीवन दृष्टि के स्थान पर प्रवृत्ति परक जीवन दर्शन की प्रतिष्ठा नवजागरण की महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं जिनसे प्रेरित होकर मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा, महामानव की मुक्ति का उद्घोष और स्वदेश के प्रति आत्मीयता की भावना का विकास हुआ ।

1·2· अतीत प्रियता का विकास :

भारतीय नवजागरण मूलत: सांस्कृतिक था । यूरोपीय नवजागरण की भाँति बौद्धिक, कलात्मक अथवा राजनीतिक नहीं । इसने अतीत से जीवन शक्ति ग्रहण की और उसे आधुनिक युग की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाने का प्रयास किया । भारत में जीवन के समस्त महान आन्दोलन एक नवीन आध्यात्मिक विचार और सामान्यत: एक नवीन धार्मिक प्रक्रिया से प्रारम्भ हुए । शिवाजी के उत्कर्ष के पीछे समर्थ गुरु रामदास एवं उनके तेरह सौ शिष्यों की प्रेरणा अंतर्निहित थी । सिखों का उत्थान दस महान् गुरुओं के नेतृत्व का सुपरिणाम था । मध्यकालीन भारत भी कबीर, नानक, दादू, सूर, चैतन्य एवं तुलसी से

प्रेरणा लेता रहा है। मध्य युग की कोख से उत्पन्न आधुनिक भारत की प्रमुख विशेषता पाश्चात्य विशिष्टताओं के साथ सफल सामंजस्य बिठाना है। आधुनिक युग के सांस्कृतिक संकटकाल में भारत ने पुन: अपनी आध्यात्मिक परम्परा का सहारा लिया। जब जब भारत जागरण हुआ, तब-तब वेदान्त ने ही प्रकाश स्तंभ बनकर मार्ग प्रदर्शन किया। जब ईसाइयत और विज्ञान भारत पहुँचे और भारत को उनके स्वागत-सत्कार की व्यवस्था करनी पड़ी, तब भारत ने एकबार वेदान्त का सहारा लिया। वैदिक धर्म की प्रवृत्ति मार्ग धारा के प्रत्याख्यान से भारतीय समाज में क्रांति एवं शौर्य के स्वर जोरों से गूंजने लगे। जिस नवोत्थान का आरम्भ राममोहन राय, दयानन्द और विवेकानन्द ने किया था, और जिसकी धारा में हम आज भी तैरते हुए आगे जा रहे हैं, वेदान्त उस आन्दोलन की रीढ़ है।

1·2· इतिहास प्रेम :-

उन्नीसवी सदी में प्रसार किए गये युरोपीय ज्ञान ने भारतवासियों के भीतर आत्म गौरव की उत्तेजना दी और उनके भीतर यह आत्मविश्वास पैदा कर दिया कि भारत संसार में सबसे महान् देश है, उसकी सभ्यता सबसे पुरानी है और उसके साहित्य और दर्शन की तुलना संसार की किसी भी जाति के दर्शन और साहित्य में नहीं की जा सकती।

भारत के अतीत के अनुसन्धान का कार्य पहले अँगरेजों ने आरम्भ किया और तब भारत के भी अनेक विद्वान उस मार्ग पर चलकर भारत के प्राचीन इतिहास का पता लगाने लगे। इस सम्मिलित प्रयास का परिणाम यह हुआ कि देखते-देखते भारत का प्राचीन इतिहास देदीप्यमान हो उठा और सभी भारतवासी अपने इतिहास पर अभिमान करने लगे।

शिक्षा का माध्यम यद्यपि अंग्रेजी ही रही, किन्तु अनुसन्धान के क्रम में संस्कृत की जो महत्ती उपादेयता प्रमाणित हुई, उसके कारण सरकार ने संस्कृत को भी प्रोत्साहित करना आरम्भ किया। संस्कृत को भारतवासी केवल इस दृष्टि से पूजते आये थे कि वह उनके धर्म और कवित्व की भाषा थी। अब वे यह मानने लगे कि संस्कृत के विधिवत् अध्ययन के बिना भारत का इतिहास लिखा ही नहीं जा सकता। भारत का सारा अतीत संस्कृत की गोद में सोया हुआ था। जब भारतवासियों को मालूम हुआ कि अनुसन्धान की क्रियाओं से यह अतीत जगाया जा सकता है, तब सचमुच ही यह अतीत खण्डहारों से उठकर पुस्तकालयों, विद्यालयों और सभा-मण्डपों में आ खड़ा हुआ।

1·3· प्रवृत्ति का उत्थान :-

प्रवृत्ति और निवृत्ति के मार्गों में भारतीय जीवन की श्रेय-यात्रा निश्चित होती रही है। प्रवृत्ति संसार में रहने का अभिलषित मार्ग है और निवृत्ति संसार को त्यागने के एकान्त वैराग्य मार्ग का नाम है। प्राचीन काल में निवृत्ति मार्ग माना जाता था और सन्यास सर्वत्र समादृत होता था। नये युग के चिन्तकों ने निवृत्ति में भारतीय जीवन की विशृंखलता का तत्व देखा और प्रवृत्ति को जीवन के लिए सब प्रकार से श्रेयस्कर सिद्ध किया। राजाराम मोहन राय, रामकृष्ण, विवेकानन्द और लोकमान्य तिलक ने प्रवृत्ति पर इतना अधिक जोर दिया कि सारा हिन्दू दर्शन प्रवृत्ति के ही उत्स-सा दीखने लगा और संन्यास से गार्हस्थ को श्रेष्ठ समझने में जो बाधा थी, वह आप-ही-आप क्षीण होने लगी। हिन्दुओं का दुर्भाग्य यह था कि वे जीवन को निस्सार मानने लगे थे। निवृत्ति की धारा में बहते-बहते हिन्दू एक ऐसे स्थान पर जा पहुँचे थे, जहाँ स्वाधीनता और पराधीनता में कोई भेद नहीं था, अन्याय और न्याय में कोई अन्तर नहीं था और न कोई अत्याचार ही ऐसा था, जिसका उत्तर देना आवश्यक हो।

निवृत्ति दर्शन के इस अंधकार पर प्रकाश के बाण पहले-पहल स्वामी दयानन्द और स्वामी अरविन्द ने बरसाये और विवेकानन्द ने ही पहले पहल लोगों को यह बतलाया कि वेदान्त जीवन से भाग खड़ा होने की शिक्षा नहीं देता प्रत्युत वह तो जीवन की कठिनाइयों के साथ अनवरत संग्राम सिखाता है। हिन्दू धर्म की ऐसी ही व्याख्या केशवचन्द्र सेन, रामकृष्ण, एनीबेसेंट, अरविन्द, रानाडे और गाँधीजी ने भी की। किन्तु, इस दिशा में हिन्दुत्व को माँजकर चमका देने का सब से बड़ा कार्य लोकमान्य तिलक ने किया। इसी प्रकार इस नवोत्थान से भारत का कायाकल्प हुआ है, धर्म की रूढ़ियाँ धूलवत् झड़ गयी है। मनुष्य की उदारता में वृध्दि हुई है और हिन्दू धर्म संशोधित होकर इस रूप में खड़ा हो गया है जिसे हम विश्व धर्म की भूमिका कह सकते हैं।

1.4. गार्हस्थ के प्रति आकर्षण :-

युरोपीय सभ्यता और विचारधारा से भारत का जो सम्पर्क हुआ, उसका सब से कल्याणकारी प्रभाव प्रवृत्ति की दिशा में पड़ा। प्रवृत्ति का अर्थ है - " सन्यासन लेकर मरण पर्यन्त चातुर्वर्ण्य-विहित निष्काम कर्म करते रहना। इसके विपरीत, निवृत्ति का मार्ग सन्यास का मार्ग है, कर्म त्याग का मार्ग है एवं निवृत्तिवादी यह मानता है कि विश्व माया है, सारहीन है, कुछ नही में कुछ का भ्रम है। इस निवृत्तिवादी दर्शन का बीज पहले-पहल उपनिषदों में दिखायी पड़ा था किन्तु जैन और बौध्द मतों के दर्शन में यह बीज बढ़कर विशाल वृक्ष हो गया। बौध्द और जैन विचारधाराओं का प्रभाव हिन्दुत्व पर भी पड़ा और उसके फलस्वरूप प्रस्थानत्रयी की टीका निवृत्ति की सिध्द के लिए की जाने लगी। परिणाम यह हुआ कि हजारवर्ष तक यह सुनते सुनते कि गार्हस्थ्य हीन एवं संन्यास उच्च धर्म है। भारत के गृहस्थ भी विचारों से सन्यासी हो गये एवं समाज मे फैले

हुए अविचारों तथा देश पर आनेवाली विपत्तियों का सामना करने की अपेक्षा व सदैव मन्दिरों में आरती सजाने तथा प्राणायामपूर्वक मोक्ष खोजने को अपना महत् कर्म समझने लगे ।

किन्तु उन्नीसवीं सदी में जो सांस्कृतिक नवोत्थान हुआ, उससे भारतीयों की आँख खुल गयी और वे स्पष्ट देखने लगे कि सम्पूर्ण इतिहास में उनका सबसे बड़ा दोष इसी निवृत्ति की उपासना थी । अतएव इस नवोत्थान के सभी नेताओं ने यह घोषणा की कि प्रवृत्ति का मार्ग जीवन पर विजय का मार्ग है एवं जो भी निवृत्ति की ओर जाता है, वह वास्तव में पलायनवादी होकर जीवन से भाग रहा है । अर्थात् निवृत्ति के साथ सन्यास और प्रवृत्ति के साथ गार्हस्थ्य की महिमा बढ़ती है । इसी प्रकार पुनरुत्थान ने प्रवृत्ति की जो महिमा जगायी, उससे गार्हस्थ्य गौरवपूर्ण हो उठा ।

1·5· सामाजिक और धार्मिक क्रान्ति :-

पुनर्जागरण के आन्दोलन के आरम्भ में भारत ने पाश्चात्य सभ्यता की दो विशेषताओं बुद्धिवाद एवं उदारवाद को स्वीकार कर उन बहुत-सी सामाजिक कुप्रथाओं को दूर करने का प्रयास किया जो कि हिन्दू समाज की जड़ों को खोखला कर रही थी । ब्रह्म समाज एवं प्रार्थना समाज की विचारधारा को राजनीतिक क्षेत्र में आरोपित करने का कार्य दादाभाई नौरोजी महादेवी गोविन्द रानडे, गोपाल कृष्ण गोखले एवं सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि उदारवादी नेताओं ने किया । पुनर्जागरण की दूसरी प्रवृत्ति स्वामी दयानन्द सरस्वती से प्रारम्भ हुई । धार्मिक सांस्कृतिक क्षेत्र में भारतीय राष्ट्रवाद के जिस दूसरे चरण का सूत्रपात आर्य समाज ने किया, थियोसोफिकल सोसाइटी एवं रामकृष्ण मिशन ने उसे बल प्रदान किया । लोकमान्य तिलक, श्रीमती एनीबेसेन्ट, रवीन्द्रनाथ टैगोर, अरविन्द

आदि ने भी इस नवीन भावना के उदय में महान योग दिया है । पश्चिमी शिक्षा एवं ज्ञान-विज्ञान से प्रभावित होकर, इस वर्ग ने धार्मिक एवं सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन के लिए आन्दोलन चलाये । सामाजिक क्षेत्र में जाति प्रथा की समाप्ति, औरतों के लिए समान अधिकार, बाल-विवाह के उन्मूलन और विधवा विवाह के समर्थन, सामाजिक और कानूनी असमानता के विरोध आदि प्रश्नों पर आन्दोलन हुए । उन्होंने धार्मिक अंधविश्वास और मूर्तिपूजा, बहुदेवतावाद, वंशानुगत पुरोहितो आदि का विरोध किया ।" [1]

नवजागरण के धार्मिक सुधार आन्दोलन पुराने समाज को नये युग की आशा आकांक्षाओं के अनुकूल ढालने के सशक्त प्रयास थे । नवजागरण के इस प्रवाह ने सांसारिकता में भारतीयों के विश्वास को बढ़ाया । मनुष्य-मनुष्य के बीच एकता में वृध्दि की, शूद्रों को सम्मानपूर्ण जीवन बिताने का मार्ग दिखाया और नारियों को शताब्दियों की कारा से मुक्त कराया । इसने भारत के विस्मृत गौरव को पुनर्जीवन प्रदान कर, देश का कायाकल्प किया । धर्म की रूढ़ियाँ धूलिवत् झड़ गई, मनुष्य की सरलता, उदारता, नैतिकता में वृध्दि हुई और हिन्दू धर्म संशोधित-परिवर्धित होकर नयी भूमिका की ओर अग्रसर हुआ ।

1·6· नयी शिक्षा के वैज्ञानिक और तर्कवादी मूल्य :-

18 वी शताब्दी के अन्त में इस देश को जिस पाश्चात्य-ज्ञान विज्ञान के संपर्क में आना पड़ा वह भारत के ज्ञान-विज्ञान से प्रकृति में ही भिन्न था । भारतीय ज्ञान गतानुगतिक और परंपरा मुक्त हो चला था । पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान नए जीवन संदर्भ की ताजगी लिये हुए थे । भारतीय ज्ञान-विज्ञान का

1· भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि - पृ·
ए·आर·देसाई

लक्ष्य आध्यात्मिक और परलौकिक था तो पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का लक्ष्य भौतिक और इहलौकिक । इस देश की विद्या वर्ग या जाति विशेष तक सीमित थी पर पाश्चात्य विद्या सर्व सुलभ थी । फिर भी ज्ञान-विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में इस देश ने अभूतपूर्व प्रगति की थी । दर्शन, ज्योतिष, गणित, औषधि, विज्ञान, धर्मशास्त्र, काव्य-शास्त्र, व्याकरण आदि में इसकी जोड का कोई अन्य देश नहीं था । पर अब उन्हीं को दुहराया जा रहा था, नई उद्भावनाओं का मार्ग अवरुद्ध हो चला था । वेदादि की आप्तता, वर्णाश्रम धर्म की श्रेष्ठता, इहलौकिकता के प्रतिअनासक्ति भाव यथास्थिति बनाये रखने के पक्षधर में थे । नई परिस्थितियों में उनकी उपयोगिता के आगे प्रश्न -चिह्न लग गया था । मुसलमानों में भी उसी प्रकार की गतानुगतिकता घर कर गई थी ।

आधुनिक शिक्षा प्रसार और प्रचार के परिणाम स्वरूप पुरातन परम्परा के शिक्षा केन्द्र समाप्त हो गये । अंग्रेजो के आगमन के परिणाम स्वरूप हम अपनी देशीयभाषाओं को छोड़कर अंग्रेजी की ओर अग्रसर होने लगे । भारत में अपने व्यापारी सम्बन्धों को मजबूत करने तथा विचारों के आदान-प्रदान की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए अंग्रेजी का प्रचार एवं प्रसार विविध उपायों द्वारा किया जाने लगा तथा अंग्रेजी विचारधारा को भारतीयों पर थोपने के लिए ईसाई धर्म के प्रभाव को भी फैलाने की जरूरत महसूस की गई । फलस्वरूप लार्ड मैकाले के परामर्श से लार्ड विलियम बैंटिंग ने सन् 1835 ई॰ में अंग्रेजी शिक्षा का माध्यम होने की घोषणा की । अत: अंग्रेजी सभ्यता ने हमारी निर्जीव मान्यताओं को बदलने में सहयोग दिया । रेल, तार, सड़क आदि ने हमारे अन्दर सोये हुए सांस्कृतिक भावों को जागृत कर दिया । तब भारतीय समाज की घिसी-पिटी परम्परायें और रूढ़ियाँ चरमरा उठीं । जब रूढ़ियों को व्यक्ति सजगता ने तोडना आरम्भ किया तो यहाँ भी व्यक्ति की स्थापना होने लगी ।

आधुनिक शिक्षा के प्रसार द्वारा ही नारी जागरण और अछूतों द्धार आदि कार्य सम्भव हो सके। ये मानवीय भावनाएँ राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए प्रेरक एवं महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। इस भाषा के अध्ययन से उस भाषा में उपलब्ध सामाजिक समता और प्राकृतिक वैज्ञानिक बुद्धिवादी दर्शन संबंधी साहित्य के अध्ययन-मनन का मौका मिला। जिसने जनतंत्रिक और बुद्धिवादी दृष्टिकोण को प्रश्रय दिया। बुद्धिवादी दर्शन की मदद से मनगहन अंधविश्वास और हजारों लाखों देवताओं एवं भाग्यवाद और परलोकवाद की जकड़ से बाहर निकल सका आधुनिक शिक्षा के द्वारा ही वह दल आविर्भूत हुआ जिसका उद्देश्य सामाजिक था, जो केवल अपने को ही नहीं अपने देश और समाज को भी पहचानने की इच्छा रखता था। समाज और देश के प्रति जो चेतना जगी, उसी के भीतर से हमारी सारी राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक क्रान्तियों का जन्म हुआ है।

इसी प्रकार आधुनिक शिक्षा और तज्जन्य पाश्चात्य संस्कृति से सम्पर्क की अत्यन्त प्रगतिशील भूमिका थी और इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक सारे प्रगतिशील आन्दोलन के लगभग सभी नेता अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त बुद्धिवादी वर्ग के थे। ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज, रामकृष्ण मिशन, थियॉसॉफिकल सोसाइटी की मान्यताएँ बहुत कुछ बुद्धि विवेक और तर्क पर ही आधारित है। यह ठीक है कि भारतीय जनता को अशिक्षा एवं अन्धविश्वास की जकड़-बन्दी से छुड़ाने अथवा उसके भीतर प्रगतिशील विचारों के प्रेरित करने का काम अँगरेजी शासनों ने नहीं किया, किन्तु नयी विद्या के प्रचार से ये सारे कार्य आप-से-आप हो गये।

1.2. सामाजिक आन्दोलन :-

अंग्रेजी शासन दिनों में भारत में समाज और धर्मसुधार संबन्धी जो आन्दोलन शुरू हुए वे भारतीय जनता की उदयमान राष्ट्रीय चेतना और उनके बीच पश्चिम के उदारवादी विचारों के प्रसार के परिणाम थे। इन आन्दोलनों ने धीरे-धीरे सामाजिक और धार्मिक नवनिर्माण का कार्यक्रम अपनाया और सारा देश इन आन्दोलनों की चपेट में आया। सामाजिक क्षेत्र में जाति सुधार या जाति प्रथा की समाप्ति, नारी के लिए समान अधिकार, बाल विवाह के उन्मूलन और विधवा विवाह के समर्थन, सामाजिक और कानूनी असमानता के विरोध आदि प्रश्नों पर आन्दोलन हुए। धार्मिक क्षेत्र में जो आन्दोलन हुए उन्होंने धार्मिक अंधविश्वास और मूर्तिपूजा, बहुदेवतावाद, वंशानुगत पुरोहितों आदि का विरोध किया। इन आन्दोलनों ने व्यक्ति स्वातंत्र्य, सामाजिक एकता और राष्ट्रवाद के सिध्दांतों पर जोर दिया और उनके लिए संघर्ष किए। अरविन्द, गाँधी, राजा राममोहन राय, रवीन्द्र, विवेकानन्द आदि इन समस्त सामाजिक रूढ़ियों से क्षुब्ध थे। पश्चिमी शिक्षा से प्रभावित होकर इस वर्ग ने जड़ीभूत सामाजिक रूढ़ियों का विरोध किया। रूढ़ि को ईश्वर प्रेम से पृथक किया। ब्रहम समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज, रामकृष्ण मिशन और थियोसोफिकल सोसाइटी ने व्यक्ति को अन्तर्मुखी बनाकर समस्त रूढ़ियों के विश्लेषण द्वारा समाज शुध्दि की भावना जागृत की।

1·2·1· सती प्रथा का विरोध :-

19 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में बंगाल, राजपूताना और दक्षिणी भारत में सती प्रथा विशेष रूप से प्रचलित थी। पति के मरने के बाद स्त्री यदि स्वेच्छा से सती नहीं होती थी तो उसे जबरदस्ती चिता में ढ़केला दिया जाता था। यदि कभी कोई स्त्री सती होने से बच भी गई तो उसे बड़ा कष्टमय जीवन व्यतीत करना पड़ता था। न तो वह अच्छे वस्त्र ही पहन सकती थी और न अच्छा खाना ही खा सकती थी। समाज उसे गिरीनजरों से देखता था। उसका जीवित रहना मृतक के ही समान था। राजा राममोहन राय ने इस प्रथा के विरोध में एक बड़ा बहुत आन्दोलन प्रारम्भ किया जिसके परिणाम स्वरूप सन् 1828 ई· में सरकार द्वारा इस प्रथा को दण्डनीय घोषित किया गया। सन् 1828 ई· के सत्रहवें रेगुलेशन के द्वारा विधवाओं को जिन्दा जलाना या गाड़ना हत्या प्रयास करार किया गया तथा उसके लिए जुर्माने या जेल की सजा का विधान भी किया गया। यही नहीं, किसी विधवा को मादक द्रव्यों का सेवन कराकर उसके विचार स्वातन्त्र्य का हरण करके, उसे सती होने के लिए बाध्य करने की चेष्टा को भी हत्या प्रयासक अपराध के अन्तर्गत रखा गया और उसके लिए मौत की सजा का विधान किया। सरकार द्वारा रोक लगाये जाने से यह सती-प्रथा अब समाज में कम हो गई। इस प्रकार इस प्रथा को मिटाने में राज राममोहन राय का सराहनीय योगदान है।

1·2·2· ब्रह्म समाज :-

सामाजिक, धार्मिक एवं राष्ट्रीय क्षेत्र के अग्रणी राजाराम मोहन राय ने सन् 1828 ई· में ब्रह्म समाज की स्थापना कर देश को नवचेतना का सन्देश दिया । ब्रह्म समाज ने धार्मिक रूढ़ि, ग्रस्तता, सती-प्रथा, जाति-पाँति, मूर्तिपूजा, अवतारवाद पर विश्वास आदि को मिटाने का प्रयत्न किया । बाल विवाह, बहुविवाह तथा अन्य सामाजिक कुरीतियों का भी बहुत विरोध किया । नारी शिक्षा, अंतर्जातीय विवाह आदि को व्यवहारिक रूप भी प्रदान किया । ब्रह्म समाज वास्तव में भारतीय संस्कृति का वह प्रबुद्ध अछोर सागर है, जिसमें इस्लाम (एकेश्वरवाद में अटल विश्वास और मूर्ति पूजा का कट्टर विरोध), ईसाई धर्म (ईसाई देशों का राजनीतिक संगठन और विज्ञान) और हिन्दू धर्म (सर्वात्मवाद, विश्ववाद आदि) तीनों का अत्यन्त समादर समादर है । राममोहन राय ने शिक्षा-दीक्षा से जो संस्कार अर्जित किया था एवं उनके आगे जो समस्याएँ खड़ी थी, उन दोनों की प्रेरणा से वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारत के प्राचीनतम सत्यों का यूरोप के नवीन सिद्धान्तों के साथ सामंजस्य बिठाये बिना भारत का कल्याण नहीं है । ईसाई धर्म हिन्दुत्व से कई गुना बलवान दीखता था । उसका सामना करने के लिए यह आवश्यक था कि भारत यूरोप की वैज्ञानिकता को ग्रहण करे और इस वैज्ञानिकता के साथ अपने धर्म को भी संसार के सामने रखे, अतएव, वैज्ञानिकता का वेदान्त से मणि कांचन संयोग नवोत्थान का प्रधान लक्षण हो गया और राममोहन राय हिन्दुत्व के उस पक्ष का आख्यान करने लगे, जिसमें मूर्तिपूजा नहीं थी, अवतार-वाद नहीं था । न जिसमें मन्दिरों और तीर्थों की ही कोई बात थी ।

ब्रह्म समाज ने अपने रचनात्मक प्रयासों से देश को संस्कृति के प्रति श्रद्धा के भाव जगाये और लोक जीवन में उसी के माध्यम से राष्ट्रीय जागरण का बिगुल फूंका। सामाजिक कुरीतियों के बन्धन टूटे और उसके साथ ही, धार्मिक, सामाजिक जागृति के आलोक में देश-वासियों ने अपने राजनीतिक बन्धनों को पहचाना। संस्कृति के आदर्शों के अनुसरण को राह में बाधा की अनेक चट्टानों को ब्रह्म समाज ने तोड़ने का दृढ़ संकल्प किया और परतन्त्रता को बेड़ियाँ सबसे प्रमुख बाधा थी। इसी कारण ब्रह्म समाज का मूल स्वर सांस्कृतिक होते हुए भी उस को साधना को दिशा परतन्त्रता के विरोध में युद्ध करने की ओर थी।

राजाराम मोहन राय ने तत्कालीन सामाजिक रूढ़ियों का विरोध किया। सर्व प्रथम उन्होंने सती प्रथा को बन्द कराया। नारी सम्बन्धी समानाधिकार पर बल दिया। नारी का अपनी संपत्ति पर कोई अधिकार न होता था, इसलिए वह जन्म से लेकर मृत्यु तक पिता, पति व पुत्र पर आश्रित रहती थी। अपनी सम्पत्ति को सुरक्षित रखने का एकमात्र साधन " पुत्र " था। पुत्र प्राप्ति के लिए बहु विवाह प्रथा प्रचलन हुआ। नारी को ऐसी दुर्गति को राय जो सहन न कर सके और इसे सम्पत्ति का समाना - धिकार दिलाने का प्रयत्न किया था। नारी शिक्षा, अंतर्जातीय विवाह आदि को महत्व दिया। इसी प्रकार राजराम मोहन ने ब्रह्म समाज को स्थापना के द्वारा समाज में मुख्य भूमिका निभाया।

1·2·3· आर्य समाज :-

सन् 1875 में स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित आर्य समाज ने हिन्दुओं को व्यर्थ की आडम्बरों, अंध-विश्वासों और रूढ़ियों के विरुद्ध उपदेश देते हुए विश्व संस्कृति की ओर प्रेरित किया । राजाराम मोहन राय के समान भारतीय संस्कृति का आधार उपनिषदों को ही न मानकर स्वामीजी ने उसका मूल वेदों में खोजा । पुराणों को उन्होंने प्रमाणिकता नहीं माना । स्वामी दयानन्द ने वेद के आधार पर सभी वर्गों का एकीकरण करते हुए देश भक्ति और राष्ट्रीय भावनाओं की लहर दौड़ा दी । वेद को सब सत्य विद्याओं का भण्डार घोषित करते हुए स्वामी दयानन्द ने देश की युवा पीढ़ी के आगे यह विचार रखा कि धर्म और समाज व्यवस्था के लिए पश्चिम की चकाचौंध से आकर्षित होने की आवश्यकता नहीं है । स्वामी दयानन्द सच्चे अर्थों में भारतीय राष्ट्रीयता के अग्रदूत थे । ब्रह्म समाज का आन्दोलन जहाँ बुध्दिवादी था, आर्य समाज का विचारदर्श हृदय और भावना को स्पर्श करनेवाला तथा निष्ठा को गहन बनाने वाला था ।

समाज सुधार की दृष्टि से स्वामी दयानन्द ने बाल-विवाह, बहु-विवाह, सती प्रथा, बाल हत्या, पर्दा प्रथा और वर्ण पर आधारित जाति भेद का विरोध करते हुए अन्तर्जातीय-विधवा विवाह, स्त्री शिक्षा और नियोग का विधान किया । नारी शिक्षा के साथ ही उसे समान अधिकार प्रदान करते हुए स्वामीजी ने निम्न वर्ग के उत्थान की ओर भी ध्यान दिया । अछूत वर्ग को शिक्षित बनाने एवं उच्च वर्ग के समक्ष लाने हेतु उन्होंने यह सशक्त मत प्रतिपादित किया कि जाति व्यवस्था का आधार कर्म और गुण माना गया है न कि जन्म । उन्होंने संस्कृत और हिन्दी में अपने विचार व्यक्त करते हुए लोक-मानस तक अपनी वाणी प्रसारित की । उन्होंने दूरदर्शिता का

परिचय देते हुए चारों दिशाओं में भ्रमण करके इस आन्दोलन को सफल बनाकर सांस्कृतिक जागरण द्वारा उदारता पूर्वक समाज सुधार किये । रूढ़ियों और गतानुगतिकता के विनाश से उन्होंने समाज को बचाया । कहा जा सकता है कि राजाराम मोहन राय ने जिन सुधारकों का श्रीगणेश किया था, स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उनका तथ्यपूर्ण विवेचन करके धार्मिक एवं सामाजिक पुनर्जागरण के द्वारा राष्ट्रीय चेतना को एक नया मोड़ दिया ।

1.2.4. प्रार्थना समाज :-

जिस प्रकार बंगाल में हिन्दू नवोत्थान के पहले नेता राजाराम मोहन राय हुए । उसी प्रकार महाराष्ट्र में इस आन्दोलन का श्रीगणेश महादेव गोविन्द रानाडे ने किया । वास्तव में ब्रह्म समाज का परिवर्तित रूप था प्रार्थना सभा । केशवचन्द्र के सतत प्रयत्नों से सन् 1884 ई. में बम्बई प्रार्थना समाज की स्थापना हुई । लेकिन इसकी सफलता का श्रेय महाराष्ट्र के महादेव गोविन्द रानाडे को ही है । इस समाज के सदस्य मराठी सन्त नामदेव, तुकाराम और रामदास थे । प्रार्थना समाज के सुधारवादी आन्दोलनों द्वारा जाति प्रथा और बाल विवाह के विरोध के साथ ही शिक्षा का प्रचार और विधवा विवाह का समर्थन किया । इसने अपनी ओर से दलितों, पीड़ितों, अछूतों की अवस्था में सुधार लाने के लिए कई जन-कल्याण संस्थाओं की स्थापना की । विधवा आश्रम रात्रि पाठशालायें भी खोली । वे सम्पूर्ण मानवजाति के कल्याण के पक्षपाती थे । इन्होंने सभी समस्याओं का समाधान वैज्ञानिक ढंग से निकालने का प्रयत्न किया था । रानाडे के परम शिष्य गोपालकृष्ण गोखले ने लिखा है -- " रानाडे ने प्राय: तीस वर्ष तक भारत वर्ष के ऊँचे

से ऊँचे विचारों तथा ऊँचो-से-ऊँचो आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व किया था ।"[1] सामाजिक एकता और युगानुरूप भारतोय आदर्शों को मोडकर राष्ट्रीय भावनाओं के प्रसार में प्रार्थना समाज का विशेष योगदान रहा । वास्तव में प्रार्थना समाज ने सच्ची सामाजिक चेतना का प्रसार किया । मानव सेवा को ही इस संस्था ने ईश्वर सेवा मानकर समाज सेवा का प्रमुख कार्य किया । रानाडे का प्रयास इस दिशा में स्तुत्य रहा ।

1·3· राष्ट्रीय चेतना :-

19 वों शताब्दी के वैज्ञानिक आविष्कारों ने संसार का रूप ही बदल दिया । वैज्ञानिक साधनों के फलस्वरूप विश्व एक परिवार को तरह हो गया । रेल, तार, हवाई जहाज आदि ने संसार को दूरो पर विजय प्राप्त कर लो । 1869 ई· में स्वेज नहर का निर्माण हो जाने के कारण यूरोप का भारतवर्ष से व्यापारिक सम्बन्ध भी सुलभ हो गया । विदेशी कम्पनियों मुख्यत: ईस्ट इण्डिया कम्पनो ने भारतोय बाजार पर अपना आधिपत्य जमा दिया । देश में धीरे-धीरे ब्रिटिश शासन-प्रणालो भी शुरू हुई । भारत में अंग्रेजी राज्य एक अभूतपूर्व घटना थी । अंग्रेजो के शासन के पूर्व भारत को आर्थिक इकाई बराबर बनी रहो । लेकिन ब्रिटिश आर्थिक व्यवस्था में भारतवर्ष एक उपनिवेश मात्र और कच्चा माल देने वाले देश के रूप में रह गया । द्विवेदो युग के प्रारम्भ में भारतोय जनता ब्रिटिश साम्राज्यवादो, पूँजोवादो और औपनिवेशिक शोषण नोति का पूर्णतया शिकार बन चुको थी । देशी रियासतों, राजाओं, नवाबों और जमोन्दारों के अन्तर्गत प्रजा को निर्धनता अत्यधिक बढ़ गयो थी ।

1· संस्कृति के चार अध्याय - दिनकर - पृ· 547·

अंग्रेजो को आर्थिक नीति के कारण भारतीय किसानों को दशा निरन्तर बिगड़ती चली गई । वे ऋण-बोझ से दबे निर्धनता को जंजीरों में जकड़ते चले गए और अन्ततोगत्वा अपने कर्त्तव्यों और अधिकारों के प्रति भी उदासीन हो गए । इतना ही नहीं इस काल में पड़े दुर्भिक्ष और महामारियों के प्रकोप ने भारतीय कृषक के आत्मविश्वास को भी हिला दिया । अंग्रेजो शासन में पड़े इन दुर्भिक्षों से जनता जहाँ एक ओर त्रस्त थी, वहीं दूसरी ओर अंग्रेजी सरकार ने पीड़ित जनता के मनोबल को गिराने के लिए ही, सब सुविधाओं के होते हुए भी न तो कोई सहायता दी और न किसी प्रकार का स्पष्ट आश्वासन । और इसी शताब्दी [19 वीं] के अन्तिम चरण में जब ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति खूब फूली फली, किसानों पर मेयो के विकेन्द्रीकरण नियम [सन् 1870] के अन्तर्गत सुधारों के नाम पर एक ऐसा चिरस्थायी बन्धन लगा दिया कि उन्हें अपनी आधी से भी अधिक उपज शासन को देनी प्रारम्भ करना पड़ी और इस प्रकार भारत का बहुसंख्यक किसान वर्ग भिखारी बन गया ।

अंग्रेजी की आर्थिक नीति के कारण यदि एक ओर भारतीय कृषक संकटग्रस्त हुआ तो दूसरी ओर उद्योग-धन्धों में लगा वर्ग भी इस लपेट से न बच सका । वस्तुत: अंग्रेजी की नीति भारत में उद्योग धन्धों और मशीन युग की अवधारणा कभी भी नहीं थी । ब्रिटिश सरकार ने नहरों और रेलों की स्थापना अवश्य की, परन्तु इनके साथ साथ आ सकनेवाले खेती के नवीन वैज्ञानिक यन्त्रों और औद्योगिक संगठनों का प्रचार-प्रसार नहीं किया । मिल और कारखाने भी इस ढंग से स्थापित किए गए कि अधिकाधिक लोग साम्राज्यवादी आर्थिकनीति पर निर्भर रहे । कृषि और उद्योग धन्धों के ह्रास की बढ़ती हुई परम्परा ने आर्थिक आन्दोलनों को जन्म दिया । साम्यवाद और समाजवाद का प्रचार भारत में होने लगा । किसानों और मजदूरों पर उसका प्रभाव बढ़ने लगा । जयप्रकाश नारायण का नेतृत्व इन्हें मिला । इसी प्रकार इस क्षेत्र में आन्दोलन शुरू हुआ ।

उन्नीसवी शताब्दी में भारत की सामाजिक स्थिति हीनावस्था की पराकाष्ठा को पहुँच गई थी । तत्कालीन भारत में बाल-विवाह, अनमेल विवाह, जाति-पाँति का ढोंग, बालिकाओं का वध आदि कुरीतियाँ प्रचलित थी । शिक्षा के क्षेत्र में देशीभाषा साहित्य, इतिहास, कला, धर्म, सांस्कृतिक आदर्शों की उपेक्षा थी । समय-समय पर अवतरित राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, स्वामी दयानन्द, रामकृष्ण तथा विवेकानन्द प्रभृति महापुरूषों ने देश की सामाजिक एवं धार्मिक दुरावस्था की ओर ध्यान आकृष्ट कर देश के जीवन का पुनरुद्धार करने का महान प्रयास किया था । ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज, ने अनेक प्रकार की कुरीतियों और कुप्रथाओं का खण्डन कर नूतन सुधारवादी विचारधारा को जन्म दिया । विभिन्न समाजों द्वारा आयोजित आन्दोलनों के फलस्वरूप अनेक सामाजिक कुरीतियों का सुधार हुआ । जनता में मानवतावादी दृष्टिकोण का प्रचार हुआ ।

जिस समाज से मानव समाज सभ्य होकर किसी न किसी प्रकार के शासन को स्वीकार करने लगा, उस समय से उसके समग्र जीवन पर राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव पडने लगा । आलोच्यकाल के साहित्य की राजनीतिक पृष्ठभूमि में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के राज्य की स्थापना, प्रथम स्वतन्त्रता-संग्राम, भारत में विक्टोरिया-शासन की प्रतिष्ठा, इंडियन-नेशनल कांग्रेस की स्थापना । बंग-भंग, मिण्टो मार्ले सुधार द्वारा साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली, प्रेस-एक्ट, प्रथम विश्व-महायुद्ध, जापान द्वारा रूसी की पराजय, रौलेट एक्ट, जलियनवाला-बाग-हत्याकांड, खिलाफत आन्दोलन, असहयोग आन्दोलन, आदि तथा उनसे उद्भूत अनेक देशीय समस्यायें हैं ।

बीसवी सदी के प्रारम्भ की राजनीतिक परिस्थिति का बीजारोपण कुछ वर्ष पहले ही हो चुका था । अंग्रेजो की साम्राज्यवादी, औपनिवेशिक तथा पक्षपातपूर्ण नीति के फलस्वरूप अन्त में 1857 का विद्रोह हुआ । लेकिन यह आन्दोलन असफल हुआ और यह सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय आन्दोलन भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आन्दोलन का एकमात्र उद्देश्य था विदेशियों का निष्कासन । सैनिकों में राष्ट्रीयता से बढ़कर धार्मिक चेतना ने अधिक काम किया । संगठित शक्ति के न होने के कारण आन्दोलन असफल हुआ ।

सन् 1885 ई॰ में इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना भारतीय इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है । इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना से भारतीयों की बिखरी हुई राजनीतिक आकांक्षायें संगठित हुई । शीघ्र ही यह संस्था भारतीय राजनीति का मानदण्ड बन गई । अंग्रेजों की भेद-नीति, अर्थ-नीति, कर-नीति तथा शिक्षा-नीति से असन्तोष की अग्नि भड़कती गयी । देश की ऐसी विपन्नावस्था में लोकमान्य तिलक ने राजनीति के क्षेत्र में पदार्पण किया और उन्होंने अदम्य साहस और प्रतिभा के बल पर देश तथा कांग्रेस की राजनीति का स्तर उच्च करने का प्रयास किया । उन्होंने अंग्रेजी-विरोधी आन्दोलन चलाने के लिए जनवादी परम्पराओं का सूत्रपात किया ।

लार्डकर्जन ने बंग-भंग की सरकारी-घोषणा 20 जुलाई 1905 ई॰ में कर दी । जिसके फलस्वरूप एक व्यापक जन-आन्दोलन शुरू हुआ । लार्डकर्जन की नीति से जनता विक्षुब्ध हो गयी । बंगाल-विभाजन की भारत-विरोधी नीति से राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत भारतीय जनता की आँखें खुल गयीं । वे अंग्रेजों को बड़े संदेह की दृष्टि से देखने लगे । भीतर ही भीतर अंग्रेजी राज्य को उलटने के लिए क्रान्तिकारी संस्थाओं का निर्माण एवं विकास होने लगा ।

इसी समय गांधीजी का आगमन हुआ । इन्होंने स्वतन्त्रता प्राप्त करने का अपना एक नवीन मार्ग दिखाया । अब जनता दो भागों में दो भिन्न-भिन्न मार्गों में चलने लगी । एक गांधीजी के नेतृत्व में अहिंसा के मार्ग पर, दूसरी क्रान्ति के मार्ग पर क्रांतिकारी हिंसात्मक मान्यताओं और पद्धतियों के प्रयोग में युवक समाज एवं शिक्षित छात्रगण विशेष रूप से उत्साही रहे । उनको सुभाषचन्द्र बोस का नेतृत्व मिला ।

इस प्रकार संपूर्ण भारत में स्वतन्त्रता और राष्ट्रीयता की ज्वाला फूट पड़ी । हड़तालें शुरू हुई, बम्बई के मिलों में लगभग साठ हड़ताले हुई । किसान भी आन्दोलन चलाने लगे । बारदोली सत्याग्रह ने सम्पूर्ण, देश के कृषकों में चेतना की लहरें दौड़ा दी । पंजाब और बंगाल में आतंकवादी दल सक्रिय हुआ । भगतसिंह आदि युवकों के साहस पूर्ण कार्यों से क्रान्ति की लहरें भारतीयों के रक्त में दौड़ने लगी । इधर गांधीजी अपने सत्याग्रह के मार्ग पर जनता के नेता बनकर आगे बढ़ रहे थे । सन् 1930-31 का नमक सत्याग्रह इस अहिंसात्मक क्रांति का प्रथम सोपान था । इनके " सविनय अवज्ञा-आन्दोलन " (Civil Disobedience Movement) में सम्पूर्ण जनता ने हर्ष के साथ भाग लिया । विदेशी वस्त्रों; विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार हुआ, जिससे अंग्रेजों को बहुत हानि हुई । इसी प्रकार यह स्वतन्त्रता आन्दोलन देश-व्यापक रहा । अंग्रेजों को इसका सामना करना अत्यन्त कष्टप्रद रहा । उनको अन्त में भारतीयों के सामने झुकना ही पड़ा । सन् 1947 में भारतीयों के हाथ देश को सौंपकर वे अपने देश लौट गए । इस प्रकार नब्बे वर्षों की अनवरत साधना के प्रतिफल के रूप में हमें स्वतंत्रता की किरणें मिली । 15 अगस्त 1947 को सारे देश में प्रसन्नता की लहर उमड़ पड़ी-मानों युग-युग की आकांक्षा की उपलब्धि का मोहक चांद मिल गया हो ।

राष्ट्रीय आन्दोलन में हिन्दी साहित्य की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इसने यदि एक ओर राष्ट्र में जागरण का शंखनाद किया तो दूसरी ओर भारत माता के सपूतों को अनाम उत्सर्ग के लिए ललकारा। सन् 1857 के स्वाधीनता आन्दोलन के बाद हिन्दी साहित्य ने आधुनिक काल में प्रवेश किया। जैसे अंग्रेजों का दमनचक्र चला वैसे वैसे राष्ट्रीय चेतना उभरने लगी और परम्परागत राष्ट्रीय भावनाओं ने विशाल रूप धारण किया। भारतेन्दु युग का सारा साहित्य राष्ट्रीय भावनाओं की धुरी पर ही घूम रहा है, उनके साहित्य में यद्यपि शासकों के प्रति प्रत्यक्ष रूप से विद्रोहिनी भावनाएँ दृष्टिगोचर नहीं होती परन्तु क्रांति को जन्म देनेवाली देश भक्ति की भावनाएँ भारतेन्दु ने जन-जन के हृदय में भर दी।

वर्तमान के यथार्थ धरातल पर अतीत के आदर्शों से भविष्य की सुनहरी सृष्टि का निर्माण राष्ट्रीय कविता का मुख्य ध्येय रहा है। इसलिए इस युग के साहित्यकारों ने अपने साहित्य में भारत के गौरवमय अतीत, दीनहीन वर्तमान और आशापूर्ण भविष्य का सुन्दरतम चित्रांकन किया है। भारतेन्दु युगीन देशभक्ति पर विचार करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन द्रष्टव्य है -- "भारतेन्दु की वाणी का सबसे ऊँचा स्वर देश भक्ति का था। नील देवी, भारत दुर्दशा आदि नाटकों के भीतर आई हुई कविताओं में देश दशा की जो मार्मिक व्यंजना हुई है, वह तो है ही, बहुत सी स्वतंत्र कविताएँ भी उन्होंने लिखीं, जिनमें कहीं देश की अतीत गौरव गाथा का गर्व, कहीं वर्तमान अधोगति की क्षोभ भरी वेदना, कहीं भविष्य की भावना से जगी हुई चिन्ता आदि अनेक पुनीत भावों का संचार पाया जाता है।"[1] इसी प्रकार भारतेन्दु कालीन प्रेरणा पाकर द्विवेदी युगीन कवियों ने राष्ट्रीयता की भावना को

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - रामचन्द्र शुक्ल - पृ. 156.

व्यापक भाव-भूमि पर अवस्थित किया । इस युग के कवियों ने जहाँ परतन्त्रता की दासता से मुक्त होने के लिए वर्तमान में जागरण का मंत्र लुटाया । वहीं दूसरी ओर अतीत की गौरवमय परम्परा का बखान भी रुचिपूर्वक किया । इस युग के सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय कवि मैथिलीशरण गुप्त के काल भारत-भारती में उन्होंने भारत वर्ष की प्राचीन सभ्यता, वर्तमान अध:पतन और आशापूर्ण भविष्य का सजीव चित्र प्रस्तुत किया है ।

1·3·1· अतीत के प्रति आकर्षण :-

कभी-कभी अतीत के दर्पण में राष्ट्र जाति का वर्तमान संवारा जाता है । अतीत से प्रेरणा लेकर वर्तमान को सशक्त बनाना और भविष्य को उज्ज्वल करना तथा जनता में नई स्फूर्ति प्रदान करना भारतेन्दु युग के साहित्य-कारों की प्रवृत्ति रही । वर्तमान शोचनीय अवस्था को देखकर देश पर बलिदान होने वाले अनेक वीरों की स्मृति आजाना स्वाभाविक था । कविता, नाटक, निबन्ध, उपन्यास एवं पत्र-पत्रिकाओं में अपने पूर्वजों एवं अलौकिक पुरूषों का कीर्तिगान मिलता है । भारत के प्राचीन गौरव का स्मरण कर " साई भारत की आज यह भई दुर्दशा हाय " उनके क्षोभ, निराशा और उद्विग्नता का सूचक है । " कहाँ करूणानिधि केशव सोए " में उनकी आत्मा का बड़ा ही मार्मिक रूदन है । विदेशी सत्ता के फौलादी पंजों से कसा हुआ भारत जिन-जिन कठिनाइयों का अनुभव कर रहा था, उसका चित्रण भारतेन्दु साहित्य में भली प्रकार हुआ है । इसी प्रकार कविता में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की " भारत-भिक्षा ", बदरी नारायण चौधरी " प्रेमघन " का जातीय संगीत, बालक मुकुन्द गुप्त के " वसन्तोत्सव " तथा प्रताप नारायण मिश्र की फुटकर कविताओं में प्राचीन भारत का वैभवशाली चित्र प्रस्तुत किया गया है ।

" भारत दुर्दशा ", " भारत जननी ", " कवि कौतुक " "महाराणा प्रताप," "अमर सिंह राठौर", "पद्मावती" आदि कई नाटकों में भी अपने अतीत के गौरव गान के माध्यम से देशवासियों के प्रति अनुराग की भावना उद्दीप्त की गई है । इस सन्दर्भ में डॉ॰वीरेन्द्र कुमार शुक्ल का कथन है -- " अभाव तथा अज्ञान के निविड़ अन्धकार में पड़े प्राणी विश्व के उन्नतशील समुज्ज्वल धरातल पर आकर अपने सत्य को समझे तथा गौरवमय अतीत के आधार पर अपने व्यक्तित्व का विकास करते रहे, यही भारतेन्दु की जन जागरण की परिभाषा है ।" [1]

द्विवेदी युगीन कवियों में मैथिली शरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, सियाराम शरण गुप्त, सोहनलाल द्विवेदी उदय शंकर भट्ट और निराला ने पराधीन निगाहित भारतीयों के मन से हीन भावना का निराकरण कर गौरव भावना की प्रतिष्ठा की । मैथिली शरण गुप्त की " भारत भारती " के अतीत खण्ड में भारतवर्ष की अतीत कालीन उच्चता और महत्ता का विशद बोध है । भाषा और व्याकरण, दर्शन, गीता, धर्म शास्त्र, नीति ज्योतिष सभी क्षेत्रों में प्राचीन भारत की ऐतिहासिक दृष्टि से सिध्द महत्ता का गुण गान गुप्त जी ने किया है । गुप्त जी के अनुसार भारत वर्ष का अतीत कालीन आध्यात्मिक, नैतिक और भौतिक उत्कर्ष अद्भुत और अभूतपूर्व था । ऐसे भव्य अतीत का स्मरण और गुणगान नितांत आवश्यक और हितकर है । गुप्त जी ने कहा है कि --

" संपूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है ?
उसका कि जो ऋषि भूमि है, वह कौन है, भारतवर्ष है ? "[2]

---

1. भारतेन्दु का नाट्य साहित्य - पृ॰ 282 - डॉ॰वीरेन्द्र कुमार शुक्ल
2. भारत भारती - मैथिली शरण गुप्त - पृ॰ 4.

निराला के अनुसार हमारा देश तत्व ज्ञानी और क्रांति दर्शी ऋषियों का देश रहा है। जैमिनी, पतंजलि, गौतम जैसे नूतन दार्शनिक पद्धतियों के उदभावक मनीषियों ने यहीं जन्म लिया। राम तथा कृष्ण से दिव्य संपन्न महामानवों की क्रीडाभूमि भी भारतवर्ष ही थी। भीष्म, अर्जुन और भीम जैसे दृढ़व्रत नरपुंगव यहीं अवतरित हुए थे। ऐसे महान पूर्वजों के पुण्यकृत्यों को स्मरण कर कोई भी देशवासी हीनता से ग्रस्त कैसे रह सकता है? कवि ने अपनी खंडहर के प्रति कविता में उन्हीं को स्मरण करते हैं --

" आर्त भारत! जनक हूँ मैं
जैमिनि - पंतजलि - व्यास ऋषियों का,
मेरी ही गोद पर शैशव विनोद कर,
तेरा है बढ़ाया मान
रामकृष्ण - भीमार्जुन-भीष्म नरदेवों ने।" [1]

इसी प्रकार अतीत की उस कल श्रेष्ठता, धैर्य और वीरता पर विचार करते हुए ठाकुर गोपाल शरण सिंह पूछते हैं --

वह धीरता कहाँ है, गम्भीरता कहाँ है?
वह वीरता हमारी है वह कहाँ बढ़ाई?
क्या हो गयी कलाएँ कौशल सभी हमारे?
किसने शताब्दियों की ली छीन सब कमाई? [2]

इनके अतिरिक्त लहर, चैत्तौड की चिन्ता, साकेत, मुकुल, सिद्धराज आदि काव्यों में भी भारत की गौरव मंडित अतीत की झाँकियाँ प्रस्तुत की।

---

1. अनामिका - निराला - पृ. 30
2. संचिता - गोपाल शरण सिंह - पृ.

1·3·2· वर्तमान के प्रति असन्तोष :-

कोई भी राष्ट्र केवल अतीत के गौरव पर प्रतिष्ठा का आधार नहीं पा सकता, उसके लिए उसे वर्तमान की कसौटी पर भी खरा उतरना होगा । भारत वर्ष का अतीत जहाँ अत्यन्त उज्वल और समृध्द था वहाँ वर्तमान सर्वथा गौरवहीन तथा दु:ख ग्रस्त है । देश दुर्दशा के मुख्यत: दो रूप है -- एक राजनीतिक दुर्दशा, दूसरी सामाजिक दुर्दशा । जहाँ एक ओर भारतीय जनजीवन दासता की श्रृंखलता से आबद्ध था वहीं दूसरी ओर सामाजिक कुरीतियों की श्रृंखलता से आबध्द था । इस काल में राजनैतिक और सामाजिक समस्याओं का ऐसा सामंजस्य हो गया था कि इन दोनों को एक दूसरे से पृथक् करना कठिन है । वस्तुत: राष्ट्रीय जीवन के उत्थान के लिए सामाजिक सुधार एवं समाज की उन्नति ही प्रथम सोपान है । तत्कालीन समाज में फैली हुई गरीबी, भूखमरी, प्राचीन रूढियों, अंधविश्वासों तथा अनुपयोगी रीति रिवाजों आदि विषमताओं की ओर भी उत्कर्षकालीन कवि की दृष्टि की गई । देश की करूणा दशा को देखकर प्रत्येक साहित्यकार ने आठ-आठ आँसू बहाकर जन-जन को अपनी वास्तविक स्थिति से परिचय कराया ।

पराधीन भारत की हीनावस्था को प्रकट करने वाला सर्वप्रथम कवि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र है । भारतेन्दु ने तत्कालीन वर्तमान की सामाजिक संकीर्णता और विषमता पर गहरा दु:ख प्रकट किया है । भारत जननी और भारत दुर्दशा नाटकों में अनेक पदों और गीतों में वर्तमान अवनति के प्रति विक्षोभ की भावना व्यंजित है । उनके दु:खी हृदय से निकले हुए ये उद्गार कितने मर्मस्पर्शी है --

" रो बहु सब मिलि के आवहु भारत भाई
हाँ हाँ ! भारत दुर्दशा न देखी जाई ।"[1]

भारतेन्दु ने " विजयिनी विजय वैजयन्ती " में भारत की वर्तमान दु:खावस्था का करुण चित्रण किया है --

" सोई भारत भूमि भई सब भाँति दु:खारी
रह्यौ न एकउ वीर सहस्रन कोस मंझारी ।।
होत सिंह को नाद जौन भारत वन माही
तहं अब ससक सियार स्वान स्वर आदि लखाही ।
धन विद्या बल मान वीरता कीरति छाई
रही वह तित केवल अब दीनता लखाई ।। "[2]

इनके अतिरिक्त बदरी नारायण चौधरी प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्ण दास, राधाचरण गोस्वामी, आदि ने भी इस प्रकार की अनेक कविताएँ लिखी। परन्तु इस पक्ष की सर्वोत्कृष्ट और प्रसिद्ध रचना द्विवेदी युग के मैथिलीशरण गुप्त की भारत-भारती है । इसमें भारत के अतीत गौरव गान के साथ-साथ वर्तमान दुर्दशा का भी बहुत स्पष्ट और विशद चित्रण है । इस काव्य के वर्तमान खण्ड में राष्ट्रीय आपदा के प्रेरक और साधक उन समस्त सामाजिक समस्याओं के पहलुओं का कवि ने उद्घाटन किया है । लेकिन इस युग के दूसरे कवि रामनरेश त्रिपाठी के लिए भूत निष्प्राण है, भविष्य अनिश्चित और वर्तमान स्पष्ट है । उन्होंने मुखरित वर्तमान को ही अपने काव्य का आधार बनाया है । अपने युग के भारत वर्ष की जीती-जागती तस्वीर खींचने की सफल

1· भारतेन्दु ग्रन्थावली - ब्रज रत्नदास - सं· - भाग -2 पृ·
2· - वही - पृ· 805·

चेष्टा की । " पथिक ", " मिलन ", " स्वप्न " में वर्तमान की दुर्दशा का स्पष्ट चित्रण मिलता है । भूत, भविष्यत् और वर्तमान की इतिवृत्तात्मकता ने जिस भारतीय आत्मा को राष्ट्रीयता की चरम साधना से आप्लावित किया उसका जाज्वल्यमान रूप माखनलाल चतुर्वेदी जी में दृष्टिगोचर होता है । भूत भविष्य से आँखें मींच कर चतुर्वेदीजी ने अपने आपको वर्तमान में केन्द्रित कर दिया ।

इसी प्रकार वर्तमान से असंतुष्ट कवि सूर्यकांति त्रिपाठी निराला ने " पतनोन्मुख " कविता में डूबते हुए भारत का कैसा दर्दभरा चित्रण किया है --

हमारा डूब रहा दिनमान
मास-मास-दिन-दिन प्रतिपल
उगल रहे है गरल-अनल
जलता यह जीवन असफल ।[1]

ठाकुर गोपाल शरण सिंह जहाँ एक ओर भारत वर्ष के गौरव शील पर प्रसन्नता व्यक्त करते हैं । वहीं उसकी वर्तमान दैन्यावस्था के प्रति वे अपने उद्विग्नता भी प्रकट करते हैं --

" सबसे पहले ज्ञान-ज्योति फैलाने वाले
जगभर में निज-कीर्ति, केतु फहराने वाले,
रिपुओं पर भी सदा दया दिखलाने वाले
मातृभूमि का मान सदैव बढाने वाले
वे भारतवासी है देते दिखलाई कहाँ ?
अज्ञान तिमिर अन्धकार को देखिए घोरे घटा छाई यहाँ । "[2]

1· परिमल - निराला - पृ· 41·
2· संचिता - गोपाल शरण सिंह - पृ· 156·

इसी प्रकार बालकृष्ण शर्मा नवीन, सियाराम शरण गुप्त, सुभद्रा कुमारी चौहान आदि ने अशिक्षा अथवा कुशिक्षा, विधवा के क्लेश, रूढ़िवादिता, अस्पृश्यता, नैतिक पतन, अन्याय और सांप्रदायिकता आदि के हृदय द्रावक चित्र उपस्थित किए । इन कविताओं में राष्ट्रीयता के एक प्रमुख अंग समाज सुधार को अभिव्यक्ति मिली है । सामाजिक वैषम्य और अन्याय के निराकरण के बिना राजनीतिक स्वाधीनता भी सार्थक और स्थायी नहीं ।

1·3·3· स्वर्णिम भविष्य की कामना :-

प्राय: सभी राष्ट्रीय कवियों ने अपनी कविताओं में स्वर्णिम भविष्य की कामना की है । वर्तमान को दुर्दशाग्रस्त चित्रण करके ही ये मौन नहीं हो गए वरन इन्होंने सुन्दर और सुखद भविष्य का निर्माण भी किया है । अतीत गौरव और वर्तमान अगौरव का बखान यदि भविष्य के लिए स्वस्थ प्रेरणा न दे तो वाग्विलास मात्र ही है । वस्तुत: इन कवियों ने वर्तमान को निराशापूर्ण और अंधकारमय चित्रण की क्षतिपूर्ति भविष्य की आशापूर्ण और आलोकमय कल्पना द्वारा की है । एक में यदि ध्वंस का उत्साह है तो दूसरे में निर्माण का । कल्पना की कि वह कितना सुन्दर और सुख शांति पूर्ण समय होगा जब पराधीनता के बंधन कट जाएंगे । देश के जल, थल और आकाश सब पर अपना अधिकार होगा । शासक अपने होंगे - होगा सब और बस अपना ही अपना ।

गुप्त जी ने अपनी भारत-भारती में भविष्यत् खण्ड में यह दृढ़ विश्वास व्यक्त किया है अपनी इस क्रीडा भूमि का पुनरुद्धार करने के लिए भगवान यथावसर अवश्य अवतार धारण करेंगे ।

" सौ सौ निराशाएँ रहें, विश्वास यह दृढ़मूल है
इस आत्म-क्रीडा-भूमि को वह विभु न सकता भूल है ।
अनुकूल अवसर पर दयामय फिर दया दिखलाएँगे ।
वे दिन यहाँ फिर आएँगे, फिर आएँगे, फिर आएँगे ।"[1]

निराला का दृढ़ विश्वास है कि पराधीन मन को क्षुब्ध करनेवाले विचारों का नाश आवश्यंभावी है तथा भारत फिर महिमा मंडित होगा, फिर से उसका भाल अलौकिक हो उठेगा ।

जितने विचार आज
मारते तरंग है
साम्राज्यवादियों की भोगवासनाओं में
नष्ट होंगे चिरकाल के लिये ।
अपनी भाल पर
भारत की गई ज्योति,
हिन्दुस्तान मुक्त होगा घोर अपमान से
दासता के पाश कट जाएँगे । [2]

पराधीनता पाश से मुक्त हो इसी प्रकार पंत द्वारा कल्पित आदर्श समाज का स्वप्न भी अवलोकनीय है --

---

1· भारत भारती - मैथिलीशरण गुप्त - पृ· 185·

2· परिमल - निराला - पृ· 212·

रूढ़ि रीतियाँ जहाँ न हो आराधित,
श्रेणिवर्ग में मानव नहीं विभाजित ।
धन बल से हो जहाँ न जन-श्रम-शोषण
पूरित भवजीवन के निखिल प्रयोजन । [1]

1.4. प्रवृत्ति का उत्थान :-

भारत का वैदिक युग प्रवृत्ति का युग था । उपनिषद् काल में सर्वप्रथम निवृत्ति की भावना उभरकर सामने आयी । बौद्ध तथा जैन धर्मों ने तो निवृत्ति को इतना अधिक महत्व दिया कि भारतीय मतजा में सांसारिक प्रवृत्ति को हीन दृष्टि से देखा जाने लगा । परलोक के समक्ष लोक को तथा सन्यास के समक्ष गार्हस्थ्य एवं कर्मण्यता की महत्ता अतीव तुच्छ जान पड़ने लगी । इस निवृत्ति मूलक विचारधारा के अनेक दुष्परिणाम भारत को भुगतने पड़े आधुनिक युग के पुनरूत्थानवादी नेताओं - स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस, महर्षि अरविन्द, लोकमान्य तिलक ने निवृत्ति मूलक भावनाओं पर कठोर वज्रपात करते हुए प्रवृत्ति की पुनर्प्रतिष्ठा की । और इन नेताओं ने वेदान्त और गीता की ही नयी व्याख्या करके यह प्रतिपादन किया है कि भारतीय वैदिकधर्म का मूल उपदेश निवृत्ति नहीं प्रवृत्ति है ।

मोक्ष प्राप्ति के लिए निवृत्ति आवश्यक है, पर प्रवृत्ति की अपेक्षा कम । निवृत्ति अकर्मण्यता है जो वैयक्तिक सुख दे सकती है । वह दीपक का निर्वाण है, जीवन का श्रेय नहीं है । इसलिए कर्मठ व्यक्ति उसे कभी

---

1. युगवाणी - पन्त - पृ. 6.

नहीं अपनाते हैं । इसके विपरीत प्रवृत्ति सच्ची मानवता है । जीवन के स्पन्दन का दूसरा नाम है, वह दीपक की लौ है जो प्रकाश देती है और मानव जीवन का सत्य श्रेय है । मोक्ष प्राप्ति निवृत्ति से भी सम्भव है और कर्म से भी । निवृत्ति तो व्यक्ति को सांसारिक कार्यों से उपर उठाकर सन्यासी की ओर ले जाती है । निवृत्ति का मार्ग वैयक्तिक मोक्ष तो दे सकता है पर समष्टि का हित नहीं साध सकता और वैयक्तिक हित या मोक्ष से धर्म की अपेक्षा अधर्म को मोक्ष खुलता है ।

निवृत्ति से मनुष्य की मनोदशा कुछ ऐसी हो जाती है कि वह संसार के सौन्दर्य में भी कुरूपता देखने लगता है, वह जीवन को मरण के समान दुखद मानने लगता है और जीवन को मरण के समान वांछित । सन्यास ग्रहण करने वाला व्यक्ति व्यवहारिक दृष्टिकोण से निष्क्रिय हो जाता है किन्तु विरक्ति ऐसी मोहक, पर, रूग्ण मान्यता सन्यासी के मन-मस्तिष्क में बैठा देती है कि वह अपनी निष्क्रियता अर्थात केवल बैठे रहने की क्रिया को श्रेष्ठ कर्म मानने लगता है । वह समस्त दृश्यमान जगत् को तो असत्य कहता है । माया को मिथ्या जाल किन्तु जो अदृश्य है, अप्राप्य है, असत्य है - ऐसी काल्पनिक जगत् को वह सत्य मानता है । निवृत्ति की धारा में बहते-बहते लोग एक ऐसे स्थान पर जा पहुँचे थे, जहाँ स्वाधीनता और पराधीनता में कोई भेद नहीं था, अन्याय और न्याय में कोई अन्तर नहीं था और न कोई अत्याचार ही ऐसा था, जिसका उत्तर देना आवश्यक हो ।

नये युग के चिन्तकों ने निवृत्ति में भारतीय जीवन की विशृंखलता का तत्त्व देखा और प्रवृत्ति को जीवन के लिए सब प्रकार के श्रेयस्कर सिध्द किया । वे मानते हैं कि केवल निवृत्ति ग्रहण कर कल्पना लोक में विचरण करते रहने से ही मनुष्य को कोई महत्ती उपलब्धि नहीं हो सकती । जीवन की सार्थकता तो सम्यक् विधि से जीवन जीने में ही है । अर्थात् संसार को त्यागकर आत्म विकास की चेष्टा करना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं जितना महत्त्वपूर्ण संसार में रहकर अपने जीवन और आसपास के मनुष्यों के जीवन को उर्ध्वमुखी बनाना है । अत: मनुष्य को चाहिए कि वह जगत् के इस विस्तीर्ण कर्म-क्षेत्र में निष्काम भाव से अपने कर्तव्यों का निर्वाह करता रहे ।

मनुष्य की विशेषता यही है कि वह निकटता और कटुताओं से बचकर मधुर को प्राप्त करना चाहता है, पर जीवन की सारी कटुताओं को भोग कर जो रस मिलता है वह सबसे मीठा रस है, यह रस प्रवृत्ति से ही सम्भव है । जीवन एक अरण्य है, जो चाहे वह अपने कर्मबल और शक्ति से अपने लिए राह बना सकता है । जीवन की समस्याओं से डरनेवाले कभी भी विजय नहीं पा सकते हैं, इसके विपरीत के संघर्षों को चरण रोप कर झेलते हैं, वे ही सच्चे मानव है । अत: मनुष्य को चाहिए कि वह जगत् के इस विस्तीर्ण कर्म-क्षेत्र में निष्काम-भाव से अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करता रहे ।

प्रवृत्ति का उत्थान, बुध्दि की स्वतन्त्रता और नारियों की मर्यादा-वृध्दि, ये तीनों पुनरुत्थानकारी आन्दोलन के सबसे बड़े परिणाम है । निवृत्ति के साथ संन्यास और प्रवृत्ति के साथ गार्हस्थ्य की महिमा बढ़ती है । समाज में जब-जब निवृत्ति की भावना बढ़ती है तब-तब

गृहस्थ और नारी की मर्यादा क्षीण हो जाती है तथा जब-जब प्रवृत्ति का उत्थान होता है, गृहस्थ्य का मान ऊँचा हो जाता है। और जब-जब गार्हस्थ्य के गौरव में वृध्दि होती है, नारियों की पद मर्यादा अपने-आप बढ़ जाती है। पुनरूत्थान ने प्रवृत्ति की जो महिमा जगायी, उससे गार्हस्थ्य गौरवपूर्ण हो उठा। और उसके स्वाभाविक परिणाम के रूप में नारियाँ आदरणीय हो उठीं।

प्रवृत्ति के उत्थान के कारण जीवन से भागने की भावना और वैराग्य दोनों ही मन्द पड़ने लगे। शास्त्र प्रमाण और परम्परा के बन्धन ढीले होने लगे एवं स्वर्ग और नरक की कल्पनाएँ निस्सार मानी जाने लगीं। उसकी बौध्दिकता में उन्नति हुई, उसके नैतिक साहस में वृध्दि हुई, उसकी चिन्तन-शक्ति पहले से अधिक तीव्र एवं उसकी वृत्तियाँ बहुमुखी हो उठीं। इसी का यह परिणाम है कि अब वह प्रत्येक विचार और प्रत्येक बिम्ब को ग्रहण करने की उत्सुकता से चंचल तथा सौन्दर्य से प्रभावित होने की क्षमता से प्रमत्र है। उसकी कीर्ति कामना इतनी उद्दाम है कि चिन्तन और कला दोनों के द्वारा वह जितना कल्याण विश्व का करता है, उससे अधिक वह अपने आपको अमरता प्रदान करने की चेष्टा करता है। इसी प्रकार प्रवृत्ति मार्ग सन्यास की अपेक्षा कर्मठ गार्हस्थ्य को श्रेष्ठ समझता है, नारियों के प्रति वह पूर्ण रूप से न्यायशील एवं उदार है तथा धर्मों में विश्वास करता है जिससे सभी धर्मों का जन्म होता है।

1·5· स्वच्छन्दतावाद :-

स्वच्छन्दतावाद, अंग्रेजी रोमांटीसिज्म शब्द का निकटतम हिन्दी रूपा स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा यूरोप में 18 वीं शताब्दी के अन्त में परम्परावाद की प्रतिक्रिया स्वरूप प्रादुर्भूत हुई। फ्रांस की राज्य क्रांति (1789) से इसका जन्म माना जाता है। फ्रांस की यह क्रांति अनेक संघर्षमय मोड़ों से गुजरी और इसका प्रभाव रोमाण्टिसिज्म के अनेक चरणों में देखा जा सकता है। रोमाण्टिसिज्म के उद्भव में यूरोप के पुनर्जागरण एवं नवजागरणवादी तत्वों का भी बहुत योगदान है। पुनर्जागरण की प्रक्रिया जिसके अन्तर्गत समूचा यूरोप धर्म और राजसत्ता को चुनौती देकर मनुष्य और मानववादी दृष्टि पर संकेन्द्रित हुआ, फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति जिसने आदर्शों को राजनैतिक क्रियाशीलता दी और औद्योगीकरण एवं पूँजीवाद का प्रसार जिसके कारण सामाजिक संरचना में परिवर्तन हुआ, मध्यवर्ग नेतृत्व में आया और व्यक्तिवादी भावनाओं का प्रसार हुआ - इन तीनों कारणों को पृष्ठभूमि में रखकर यूरोपीय स्वच्छन्दतावाद विकसित हुआ। इस प्रकार यूरोपीय स्वच्छन्दकाव्यधारा ने व्यक्ति स्वातन्त्र्य के साथ अमानवीय प्रचलित परिपाटियों का घोर विरोध करते हुए प्रजातांत्रिक चेतना और उन्मुक्त कल्पना वैभव के लोक का निर्माण किया। जो बंगला काव्यधारा से छनता हुआ हिन्दी साहित्य में आंशिक रूप से अपना प्रभाव दिखलाने लगा। छायावाद वास्तव में हिन्दी की पूर्ववर्ती स्वच्छन्द भावधारा का ही प्रतिफल है जो पूर्णतः युग चेतना से सम्पन्न काव्यधारा है और जिसका बहुत प्रारम्भिक स्वरूप भारतेन्दु युग से ही निर्मित हो रहा था। भारतेन्दु युग में हर क्षेत्र में विविधता और नवीनता थी। रीतिकालीन श्रृंगार के प्रति विद्रोह स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण का परिचायक है। द्विवेदी युग में ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ीबोली को

प्रतिष्ठा, नवीन छन्दों की योजना, वर्तमान के प्रति असंतोष, रूढ़ियों के प्रति विद्रोह, प्राचीन बन्धनों के प्रति क्षोभ, अतीतोन्मुख आदर्शवादिता आदि भावनाएँ स्वच्छन्दतावादी भावधारा का क्रमिक अभ्युदय और विकास घोषित करती है। किन्तु यह सत्य है कि पूर्णत: उसे विस्फोटित हो जाने का अवसर द्विवेदी युग के पश्चात ही मिला। सामान्यत: स्वच्छन्दतावाद से प्राक् छायावादी हिन्दी कविता का बोध होता है। जिसके प्रवर्त्तक और उन्नयक थे श्रीधर पाठक, मुकटधर पाण्डेय, लोचन प्रसाद पाण्डेय, रूप नारायण पाण्डेय और रामनरेश त्रिपाठी। प्रकृति, देशभक्ति, वन-वैभव और एकान्त प्रणय स्वच्छन्दतावाद के मूलतत्व कहे जा सकते हैं और इन सबके ऊपर है वैयक्तिक स्तर पर विद्रोह का भाव।

हिन्दी कविता की स्वच्छन्दतावादी धारा में देशभक्ति का गहरा रूप भी हमें देखने को मिलता है। वस्तुत: एकांत प्रणय और देशभक्ति का सहज-संपृक्त रूप भारतीय और हिन्दी रोमांटिसिज्म की अपनी विशेषता है। अंग्रेजी और युरोपीय रोमांटिसिज्म का प्रभाव सिद्ध करते समय लोग प्राय: इस मौलिक अन्तर की ओर ध्यान नहीं देते, जो स्वाधीन और पराधीन देशों की रोमांटिक प्रवृत्तियों को अलग-अलग करता है। इंग्लैण्ड के लिए देशभक्ति और राष्ट्रीयता की यह संवेदनात्मक अवतारणा इस सन्दर्भ में अपेक्षित न थी, पर पराधीन भारत का कवि अपने समूचे रोमांटिक मिजाज में इस राष्ट्रीयता के पक्षको विशेष महत्व देता था। श्रीधर पाठक से लेकर छायावादी कवियों तक का कृतित्व इसका साक्ष्य प्रस्तुत करता है।

1.6. छायावाद के खिलाफ विद्रोह :-

छायावाद मुख्यत: भारतीय पुनर्जागरण के अन्तर्गत जीवन मूल्य सम्बन्धी औपनिषदिक चैतन्य तथा औद्योगिक क्रान्ति के बाद 19 वीं सदी के यन्त्र युग की आशा, आस्था तथा नवीन सौन्दर्य दृष्टि से अनुप्राणित भाव-बोध को लेकर अवतीर्ण हुआ था । इस काव्य धारा की चेतना में देश के सांस्कृतिक संस्कारों का परिष्कार और व्यक्ति मानस के प्रेम, श्रृंगार, सौन्दर्य और कल्पनाओं का परिमार्जन हुआ है । यही कारण है कि अपने अल्प जीवन काल [1916-36] में ही छायावाद ने जिन साहित्यिक, सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्यों के नवीन भावबोधों की गरिमा बढ़ाई, वह किसी भी अन्य काल की व्यापकता, गम्भीरता और श्रेष्ठता से बढ़कर है । सच्चाई यह है कि अपनी शाश्वत अर्थवत्ता की अभिव्यक्ति में ही " छायावाद " की महिमा गुम्फित है । इस काल में " पल्लव ", " ग्रन्थि " और " गुंजन ", " झरना ", " आँसू " और " लहर ", अनामिका ", " परिमल " और " गीतिका ", नीहार ", " रश्मि " , नीरजा " और " साध्यगीत " जैसे उत्कृष्ट प्रगीत काव्यों की सर्जना हुई और "कामायनी" जैसा महान् काव्य लिखा गया । पन्त, प्रसाद, निराला, महादेवी, भगवतीचरण वर्मा, रामकुमार वर्मा छायावाद युग की अमर विभूतियाँ है ।

छायावाद के उद्भव के बारे में इस युग के प्रवर्त्तक सुमित्रानन्दन पन्त का कथन है -- " छायावाद मुख्यत: भारतीय पुनर्जागरण के अन्तर्गत जीवन मूल्य सम्बन्धी औपनिवेशिक चैतन्य तथा औद्योगिक क्रान्ति के बाद 19 वीं सदी के यन्त्र युग की आशा, आस्था तथा नवीन सौन्दर्य दृष्टि से अनुप्राणित भाव-बोध को लेकर अवतीर्ण हुआ था ।"[1]

---

1. सुमित्रानन्दन पंत ग्रन्थावली - खण्ड - 6, पृ. 125 - पन्त

छायावाद के सुप्रसिद्ध आलोचक डॉ॰नामवर सिंह का कथन है --
" छायावाद हमारी विशेष सामाजिक और साहित्यिक आवश्यकता से पैदा हुआ और उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए उसने ऐतिहासिक कार्य किया। समाज और साहित्य को उसने जिस तरह पुरानी रूढ़ियों से मुक्त किया, उसी तरह आधुनिक राष्ट्रीय और मानववादी भावनाओं की ओर भी प्रेरित किया। व्यक्ति की स्वाधीनता, विराट कल्पना, प्रकृति साहचर्य, मानव-प्रेम, वैयक्तिक प्रणय, उच्च नैतिक आदर्श, देश भक्ति, राष्ट्रीय स्वाधीनता आदि के प्रसार द्वारा छायावाद ने हिन्दी जाति के जीवन ऐतिहासिक कार्य किया। कविता के रूप-विन्यास को पुरानी संकीर्ण रूढ़ियों से मुक्त करके उसने जीवन अभिव्यंजना प्रणाली के लिए द्वार खोल दिये।"[1]

छायावाद पर भारतीय सर्वात्मवाद, प्रतिबिम्बवाद, और अद्वैतवाद के अतिरिक्त पाश्चात्य रोमांटिसिज्म, कलावाद, कल्पनावाद, प्रभाववाद, दुःखवाद, व्यक्तिवाद, अभिव्यंजनावाद, आदि पाश्चात्यवादों और विश्वकाव्य के नये भावबोध तथा अभिव्यक्ति भंगिमा का भी प्रभाव किसी-न-किसी-रूप में पड़ा है। रोमांटिसज़्म (स्वच्छन्दतावाद) के प्रभाव ने भाव पक्ष और कलापक्ष में विद्रोह कराया और स्वच्छन्दभाषा विधान नवीन स्वच्छंद छंद-योजना, मुक्त छंद, गीति पद्धति, रागात्मकता रूढ़ि विद्रोह, प्रकृति-परकता, मानवीकरण, चेतनीकरण, सर्वचेतनावाद, कल्पनातिरेक, कौतूहल गुह्य संकेत, करुणा, कुंठा, अभिव्यक्ति प्रणय, सौन्दर्योपासना, बृहत्तर मानववाद, व्यक्ति स्वातन्त्र्य आदि का पोषण किया। छायावाद अपने समय की एक ऐसी चेतना थी जिसने हिन्दी काव्य को परम्परागत रूढ़ियों को तोड़कर काव्य जगत

---

1. छायावाद - नामवर सिंह - पृ॰ 138॰

मे क्रांति उपस्थित की जो अपना कार्य समाप्त कर नयी–नयी काव्य-प्रवृत्तियों में बिखर गयी । आज का स्वच्छन्दतावादी पर्यायवाद हो, या प्रगतिवाद, प्रयोगवाद हो या नूतन रहस्यवाद ये सभी छायावाद के ही विकसित रूप है ।

छायावादी कविता जितने कम समय में लोकप्रियता की ऊँचाई के शिखरों को चूम चुकी थी, उतनी ही शीघ्रता से पतन की खाइयों में गिर पड़ी । इसके कई कारण हमें स्पष्ट देखने को मिलते है ।

1·6·1· कवियों का आत्म निवेदन :-

सर्व प्रथम छायावाद के पतन के लिए कवियों का आत्म निवेदन ही उत्तरदायी है । इन कवियों की रचनाओं में सर्वत्र इनके अन्तर्मन की असफल वासनाओं के ही दर्शन होते हैं, जिससे पाठक पर कुप्रभाव पड़ा और सुधार - वादियों को इसके विरुद्ध दूसरी काव्यधारा को प्रवाहित करना पडा । इनकी वासनात्मक अभिव्यक्ति के विषय में डॉ· इलाचन्द्र जोशी ने उचित ही कहा है, " छायावादी कवियों ने हमें साहित्य के नाम कर क्या दिया है ? अपने हृदय की अतृप्त वासनाओं की विषाक्त वायु से सम्पूर्ण वातावरण को विषावत बना दिया, जिससे हमारा सारा युवा वर्ग दूषित हो उठा ।" -- यही कारण था कि छायावाद को समय से पूर्व ही साहित्य के आंगन से विदा लेनी पड़ी ।" [1]

1· हिन्दी साहित्य - तृतीय खण्ड - सम्पादक - धीरेन्द्र वर्मा - पृ· 217·

1·6·2· जनरुचि की अवहेलना :-

छायावाद ने जनरुचि की अवहेलना की और जनरुचि की अवहेलना करके कोई भी कला बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकती । छायावादी काव्य से उस युग के जन समाज की आशाएँ पूरी न हो सकी और इसलिए वह काव्य अपने समय में ही लोगों की अवज्ञा का शिकार हो गया । छायावादी काव्य का जनता से असम्बद्ध और दूर होना तथा जनता को प्रभावित करने में असमर्थ होना, उसमें भारी अवगुण थे । और इसके परिणाम इस काव्य प्रवृत्ति को झेलने पड़े ।

इस सन्दर्भ में सुप्रसिद्ध स्वच्छन्दतावादी कवि एवं आलोचक डॉ·रामधारी सिंह दिनकर का कथन है -- " छायावाद-युग में छायावादी कविता और जन समुदाय के बीच कोई सम्बन्ध न था और यदि सम्बन्ध का कोई पतला धागा दोनों को बाँधे हुए था भी तो यह धागा भावुक, किशोर-मय, युवकों के उत्साह का धागा था, उनसे आगे समाज में जो विभिन्न विषयों के विद्वान और कविता के पाठक थे, वे छायावादी आन्दोलन को थोडा भी महत्व नहीं देते थे । सच पूछिये तो छायावाद निर्धन नहीं, कमजोर था, बुरा नहीं, मृत था और इसीलिए उसकी जो प्रशंसा होनी चाहिए थी, वह न हो सकी ।"[1]

1·6·3· लोक संवेदना का तिरस्कार :-

छायावादी काव्य सामान्य और असामान्य तत्वों का मेल नहीं करता । उसकी प्रवृत्ति असाधारण सूक्ष्म गुम्फन की ओर रही जिसने उसे कभी साधारण शिक्षित जनता के लिए ग्राह्य नही होने दिया । स्थूल एवं सशक्त स्पर्शों का

1· काव्य की भूमिका - दिनकर - पृ· 54·

एकान्त प्रभाव उसके प्रभाव ग्रहण में प्रबल बाधक हो जाता है । यह कमी "प्रसाद और " महादेवी " में अधिक मिलती है ।

" छायावाद जीवन के प्रश्नों को भावुकता प्रधान कल्पना मूलक, आदर्शवादी दृष्टि से देखता है । उसकी यह दृष्टि जीवन के यथार्थ के बिलकुल विपरीत है । जैसे स्त्री-पुरुष सम्बन्धों का आदर्शीकरण, नारी का आदर्शीकरण, किसान-मजदूर जीवन का आदर्शीकरण-गोया हर चीज का कल्पना प्रवण आदर्शीकरण और उदात्तीकरण निश्चय ही छायावाद की फिलॉसफी और कार्य-पद्धति ही गड़-बिड़ है ।"[1]

1·6·4· सामाजिक समस्याओं की अवहेलना :-

प्रगतिवादियों ने छायावाद पर पलायनवादी होने का आरोप लगाया और कहा कि छायावादी कवि सामाजिक समस्याओं की अवहेलना करके केवल कल्पना जगत में ही विचरते हैं । उनका यह कहना उचित ही है क्योंकि छायावादी काव्य में तद्युगीन भारतीय समाजिक जीवन की अभिव्यक्ति हुई ही नहीं ।

समाज तत्कालीन परिस्थितियों से संघर्षरत रहने के लिए ऐसे साहित्य की अपेक्षा करता था, जो उसे कर्म-क्षेत्र में संघर्ष करने के लिए साहस प्रदान करें और उन परिस्थितियों का डटकर मुकाबल करने के लिए प्रेरित करे । जब कि छायावादी कवि समाज की वास्तविकताओं से दूर, बहुत दूर कहीं ऐसे संसार में जाना चाहता था, जहाँ संसार की कठिनाइयाँ, वेदना और संघर्ष न हो, यथा ---

---

1· मुक्तिबोध § मुक्तिबोध रचनावली - सम्पादक - नेमिचन्द्र जैन §
पृ· 318·

ले चल मुझे भुलावा देकर,
मेरे नाविक ! धीरे-धीरे !
जहाँ निर्जन में सागर लहरी
निश्छल प्रेम कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनि रे ।[1]

छायावादी काव्य जीवन की वास्तविकता से तटस्थ था । तद्युगीन सामाजिक जीवन निश्चय ही छायावाद काव्य में अभिव्यक्त नहीं हुई है । समाज की परम्परागत अन्ध-मान्यताएँ,दरिद्रता, असंतोष आदि का इस काव्य में स्वर नहीं उठा । समाज के सुख-दु:ख, जीवन-संघर्ष एवं प्रधान समस्याओं की ओर भी उसका ध्यान नहीं गया । जन-साधारण के जीवन का उसने स्पर्श नहीं किया । उनकी भौतिक, आर्थिक स्थितियों को भी वाणी नहीं दी । राजनीति और समाज जीवन की सर्वथा उपेक्षा की और स्वतंत्रता के लिए आकुल आवाज भी इस कविता में नहीं है ।

1·6·5· छायावादी कविता में अभिव्यक्ति पक्ष की कमजोरी :-

छायावादी कवियों का भावपक्ष जितना प्रबल था, उनका अभिव्यक्ति पक्ष उतना ही कमजोर था, फलत: अभिव्यक्ति की दुरूहता उनके काव्य का दोष बन गई और जन मानस तक नहीं पहुँच पायी । भाव प्रवणता के आधिक्य को वे बुद्धि के द्वारा संयत नहीं कर पाये थे और जब उन्होंने ऐसा किया, तब वे उच्चकोटि की रचना में समर्थ हुए ।

1· हिन्दी साहित्य का इतिहास - डॉ· राजेन्द्र शर्मा - पृ· 177·

छायावादी कवियों की अभिव्यक्ति की धूमिलता और कथ्य की वायवीयता आदि की आलोचना करते हुए दिनकर कहते है कि " छायावादी काव्य का विषयक्षेत्र सीमित था और उसकी शब्दावली वायवीय थी । इसके साथ जीवन के कोमल पक्षों का त्याग और उपेक्षा थी । इनके पास जागृत जीवन की भाषा नहीं थी और जीवन की वास्तविकताओं की व्याख्या या निरूपण में वह काव्य एकदम असमर्थ था । यह काव्य बहुत ही संदिग्ध अनु - भूतियों को लेकर चल रहा था और इस जाल को तोड फेंकने का काम छायावादोत्तर कवियों ने किया ।[1]

डॉ॰देवराज के अनुसार " कल्पनाधिक्य ही छायावाद की सबसे बड़ी कमजोरी है । यथार्थ की नितान्त अधूरी पकड़, रहस्यभावना की दुर्बलता का द्योतक अनुभूतियों का धुँधला छायामय प्रकाशन, शब्द मोह, चित्र मोह, एकांगी सौन्दर्य दृष्टि, बाह्य प्रभाव से उत्पन्न विचारगत और रागात्मक सामंजस्य तथा लोक संवेदना का तिरस्कार आदि अनेक बातों को उन्होंने साकार और सतर्क प्रस्तुत किया । आध्यात्मिकता और पलायन-शीलता को उन्होंने पतन के कारणों में स्वीकार नहीं किया । क्योंकि वैसा प्रभाव ही उत्पन्न नहीं होता है । यदि सच्ची विरागमूलक धार्मिकता छायावाद में होती तो उनके मत से इस धर्म-प्राण देश की जनता उससे इतनी जल्दी न ऊबती ।[2]

1· मिट्टी की ओर - दिनकर - पृ· 21 - 24 तक

2· छायावाद-उत्थान पतन पुनर्मूल्यांकन - देवराज - पृ· 7 - 9·

डॉ॰ इलाचन्द्र जोशी को दृष्टि में अन्ततः भाषा और भाव को एकांगिता, आडम्बर पूर्ण और नीरव झंकार भरी कल्पना, अपूर्ण जीवनी शक्ति अथवा अर्ध विकसित व्यक्तित्व एवं वैयक्तिकता, अनुभूतिगत ईमानदारी और व्यंजनागत संयम की कमी आदि मुख्यकाव्य सिद्ध होते है ।[1]

डॉ॰ नामवर सिंह जी का कथन है कि छायावाद का प्रधान गुण है अस्पष्टता । भाव इतना अस्पष्ट हो जाये कि वे कल्पना के अनन्त गर्भ में लीन हो जाये । आगे उनका कथन है कि शब्द अक्षरों से बनते है और अक्षर अविनाशी है, वह तो अज्ञेय है, अनन्त है । अतएव हमें भाषा को वह रूप देना चाहिए, जिससे वह नीरव हो जाये । वह कर्णश्रुत न होकर, हृदय गम्य हो, इन्द्रियगोचर न होकर आत्मा से ग्राह्य हो ।[2]

छायावाद की वेदना प्रियता की जड़ में भारतीय परिवेश नहीं था, वरन् रोमांटिक मनोदशा की परिणति थी और था उर्दू कवियों का प्रभाव । सूफी कवियों की वेदना प्रियता ही कबीर, मीरा, घनानन्द और बोधा से होते हुए प्रसाद महादेवी आदि कवियों में पहुँची थी । छायावादी युग के कवियों की अनुभूतियाँ, भाव और शब्द सूफी कवियों से भिन्न जरूर है, पर दोनों देशों के कवियों की जमीन एक थी । रूदन शीलता और निराशा से ऊपर उठ नहीं पाने के कारण भी छायावाद के सुयश और महत्व में बाधा पड़ी ।

1· हिन्दी साहित्य - तृतीय खण्ड - डॉ॰धीरेन्द्र वर्मा - पृ॰ 217

2· छायावाद - नामवर सिंह - पृ॰ 10 - 11·

निष्कर्ष :-

छायावादी काव्य में अतिशय भाव प्रवणता और कल्पनाशीलता होने के कारण यह काव्य लोक मंगल से विरहित हो गया। स्पष्टतः निराशा, दुःख और पलायन की गति को प्राप्त हुआ छायावाद और आगे नहीं चल सका। छायावादी कवि का मनोबल टूट चुका था और उसकी काव्य साधना में गिरावट आने लगी थी। एक ओर व्यक्तिवादी जीवन दर्शन किसी काम का नहीं रह गया था। दूसरी ओर काव्य के रूप-विन्यास में भी अवरोध उत्पन्न हो गया था। परिणामतः छायावाद युग का अन्त हो गया। जीवन और जगत की परिवर्तनशीलता के बीच छायावाद स्थायी भी नहीं हो सकता था। हिन्दी काव्य के इतिहास में उसे एक स्थायी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ, किन्तु अनेक संदर्भों में गति अवरोधक भी उत्पन्न हो गया। प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की काव्यधारायें छायावाद के सूखते हुए प्रवाह में ही उत्पन्न हुई। छायावादोत्तर काल में स्वतः छायावादी कवियों ने भी यह अनुभव किया कि उनके व्यक्तित्व अथवा कृतित्व की अर्थवत्ता समाप्त हो चुकी है।

द्वितीय अध्याय

सर्जनात्मक संघर्ष

2. सर्जनात्मक संघर्ष

2.1. रूसी क्रान्ति :-

जिस तरह फ्रांस राज्य की क्रान्ति को 18 वीं शताब्दी के यूरोपीय इतिहास की सबसे अधिक महत्वपूर्ण घटना माना जाता है । उसी प्रकार रूस की क्रान्ति 20 वीं शताब्दी के इतिहास की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना मानी जाती है । फ्रांस की राज्य क्रान्ति ने निरंकुश शासकों के स्वेच्छाचारी शासन को समाप्त करके फ्रांस में राष्ट्रीयता, लोकतन्त्रवाद, तथा राजनीतिक समानता की स्थापना की थी । रूस की राज्य क्रान्ति ने राजनीतिक क्षेत्र के साथ ही साथ सामाजिक, आर्थिक और औद्योगिक क्षेत्रों में भी समानता लाने का प्रयत्न किया था । इस क्रान्ति द्वारा विश्व को एक नवीन विचारधारा से परिचित कराया गया । वह विचारधारा अनेक नामों से प्रसिद्ध है, जिसमें समाजवाद, कम्युनिज्म और साम्यवाद अधिक प्रसिद्ध है ।

रूसी क्रान्ति का मुख्य आधार आर्थिक था । आर्थिक दृष्टि से रूस अत्यन्त दयनीय स्थिति में था, उसके साथ औद्योगिक क्रान्ति के कारण मजदूरों की समस्या भी उत्पन्न हुई । रूस की जनता में किसान, मजदूर एवं सैनिक अधिकांश थे । वहां के खेतों में फसल कम हो गयी । भूख से पीड़ित सैनिक युद्ध करने से इनकार रहे थे । जब उसकी समस्या का हल न हुआ तब वह अचानक क्रान्ति पर बैठी । यह क्रान्ति दो चरणों में हुई । पहली क्रान्ति एक मार्च, 1917 को तथा दूसरी नवम्बर 1917 को हुई । मार्च में हुई क्रान्ति में मजदूर, किसान एवं सैनिक सम्मिलित होकर रोटी के लिए नारे लगा रहे थे । यह क्रान्ति इतनी सशक्त हो गयी कि 15 मार्च 1917 को जार निकोलस द्वितीय सिंहासन छोड़ने को मजबूर हुआ । फलस्वरूप रूस की समस्त जातियाँ एक हो गयी परन्तु क्रान्ति पूर्णतया सफल नहीं हो पायी । इसलिए नवम्बर 1917 को दूसरा दौर आरम्भ हुआ । इस क्रान्ति में सरकार पूंजीपतियों के अनुकूल थी अत: किसानों, मजदूरों एवं सैनिकों की मांगों की उपेक्षा की गयी । परिणामत: जन-आक्रोश बढ़ा और क्रान्ति की ज्वाला भड़क उठी । इस प्रकार 15 मार्च 1917 ई॰ को " जारशाही " शासन के अन्त की घोषणा की गई ।

रूस की क्रान्ति की महत्ता का कारण यह है कि वह रूस तक ही सीमित नहीं रही, अपितु विश्व में भी अपने सिद्धान्तों का प्रचार करके क्रान्ति की प्रेरणा देने लगी । एशिया के अनेक देशों में इस क्रान्ति के प्रभाव से शासन-व्यवस्था में अनेक परिवर्तन करके उसे सामान्य जनता के लिये लाभकारी बनाने के प्रयास किये जा रहे हैं । इसी प्रकार आधुनिक यूरोप के अधिकांश भागों में भी शासन-व्यवस्था को साम्यवादी शासन प्रणाली की अनेक लाभदायक धाराओं के आधार पर सामान्य जनता के लिये कल्याणकारी बनाया जा रहा है । आज भारत में भी साम्यवाद का प्रचार हो रहा है ।

स्वयं नेहरू जी लेनिन से प्रभावित थे। कृषि प्रधान देश होने के कारण ये भारत को रूस के मार्ग पर चलाने के आकांक्षी थे, ताकि समाज में आर्थिक समानता रहे, जनता सुखी रहे एवं आदर्श समाज स्थापित हो। इस प्रकार 1789 ई० की फ्रांस की राज्य क्रान्ति के समान ही 1917 ई० की रूस की क्रान्ति भी विश्व की अत्यधिक महत्वपूर्ण क्रान्ति मानी जाती है।

2·1·2· दिनकर पर रूसीक्रान्ति का प्रभाव :-

भारत में अंग्रेजी राज्य ने भारत में सामान्तवाद से गठबन्दन किया। अंग्रेजी राज्य एक पूँजीवादी व्यवस्था है। लेकिन इस पूँजीवादी व्यवस्था में प्रधानता सामान्तवाद को दी गई। एक ओर औपनिवेशिक शोषण और दूसरी ओर सामन्ती शोषण और अत्याचार ने इस स्थिति को बहुत भयानक बनाया। जनता की स्थिति दयनीय हो गयी। कारीगर, दस्तकार और छोटे कहटकार नष्ट हो गये। 1835 ई० में ईस्ट इंडिया कम्पनी के गवर्नर जनरल ने कम्पनी के गवर्नर जनरल ने कम्पनी के बोर्ड आफ डायराक्टरस को पत्र में लिखा था कि बुनकरों, दस्तकारों की सफेद अस्थियाँ चारों ओर बिखरी ही दिखलाई पड़ती हैं। यह अंग्रेजों के आगमन के पहले भारत में उद्योग, इंगलंड और पश्चिमी युरोप के देशों से अधिक विकसित थे पर अंग्रेजी राज में धीरे-धीरे उद्योग पूरी तरह नष्ट हो गये। अंग्रेजी ने भारतीयों को मशीनों को देखने तक रोक दिया। जवहरलाल नेहरू ने " अपनी भारत एक खोज " नामक एक ग्रन्थ में लिखा है कि - " हैदराबाद की निजाम ने अंग्रेजी रेसिडेण्ट से प्रिंटिंग मिशन देखने के लिए बहुत आग्रह किया। तब अंग्रेजी रेसिडेण्ट ने तोपखाना निजाम को दिखलाया। इस बात का पता कलकत्ता में गवर्नर जनरल को चला वह बेहद नाराज हुआ। उसने रेसिडेण्ट को बहुत फटकार दी। और सभी उंचे अंग्रेजी अधिकारियों को निर्देश दिये

गये कि भारतीयों को मशीनों के पास फटकने न दिया जाय । इस प्रकार उद्योग धंधे नष्ट किये गये । भारत में अंग्रेजों के आगमन के पहले यूरोप के बाजार में भारत के कपड़े पटे हुए थे । पर अंग्रेजों ने भारत के वस्त्र उद्योग को भूख से तड़पते हुए बच्चे-रोदन और उत्पीड़न का साम्राज्य - दिनकर के किशोर नयनों ने इन्हें विस्मय और प्रश्न नजरों से देखा था । मनो गल्ला पैदा करनेवाले किसानों को इसने भूख से तड़पते देखा था, घड़ों पसीना बहाते देखा था और फिर उदासी-भरी संध्या के बाद उन्हें भर लोटा पानी पीकर संतोष भी करते देखा था । मुट्ठी भर शोषक, किस प्रकार अगणित शोषितों को भेड़ों की तरह बेगार में हाँककर ले जाता है, पीटता है, जबर्दस्ती भूखे काम करवाकर छूछे हाथ घर भेज देता है - दिनकर के अर्द्ध चेतन नयनों ने इन्हीं आँखों पर चढ़कर देखा था ।"[1]

इस प्रकार भारतीय जनता को गरीबी और बदहाली से बाहर निकलने के लिए दिनकर ने रूस की क्रान्ति से प्रेरणा ली । रूस की क्रान्ति दिखा कांति थी । लेनिन ने मार्क्सवाद के जीवन दर्शन के आधार पर यह क्रांति की थी । लेकिन भारत के आतंकवादी उस क्रान्ति से मार्क्सवाद के जीवन दर्शन को नहीं वरन् हिंसक तत्व को ग्रहण कर रहे थे । भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद, बोस, यशपाल और ऐसे सैकड़ो क्रांतिकारी ने क्रान्ति के द्वारा नष्ट किया । उसके बाद " दी मेनचेष्टर " का कारखाना चलने दिया । उसी प्रकार खेती पर लगान बहुत बढ़ा दिया । मद्रास प्रेसिडेन्सी में तो यह लगान आठ गुणा अधिक बढ़ाया गया । कष्टकार टूटने लगे । कृषिकार व्यवस्था नष्ट होने लगी । इससे बेहद गरीबी पैदा हुई । यह गरीबी अंग्रेजी राज की देन थी ।

---

1. दिग्भ्रमित राष्ट्रकवि - कामेश्वर शर्मा - पृ. 8.

दिनकर इतिहास के अध्येता थे। रूसी क्रान्ति उनके समय में घटित थी और कालेज में उन्होंने अध्ययन किया। किस प्रकार लेनिन ने रूस में जार के नेतृत्व में तानाशाही को खत्म किया। सामंतवाद को समाप्त किया वहाँ की जनता को बदहाली से बाहर लाया। सब उन्होंने इतिहास के छात्र के रूप में पढ़ा। ये सब उनकी चेतना को झकझोरा।

प्रसंगात डॉ॰कामेश्वर शर्मा ने लिखा है दिनकर का बाल्य-काल घोर देहात में बीता है, घोर देहात, जिसकी भूमि को न जाने कब से गंगा अपने पावन जल से सींचती आ रही है। हरी-भरी भूमि, धान और गेहूँ के लहलहाते पौधे, सरसों के फूल, उन्मुक्त पवन और मौजों में लहराती हुई गंगा-दिनकर के बालनयनों ने इन्हें हर्ष और उल्लास के साथ देखा था। उजड़ते खलिहान, क्षीणकाय किसान, जमीन्दारों के शोषण, अंग्रेजी राज्य को उल्टा देना चाहते थे। वे अपने आँखों में लेनिन का स्वप्न पाया था। उस युग के हर विद्रोह के पीछे लेनिनवादी विचारों का प्रभाव था। लेनिन का नाम भारत में घरेलू के रूप में स्मरण में आने लगा। दिनकर की जुबान क्रांतिकारी, विद्रोही चेतना लेनिन से आक्रांत हुई। यथा

उठा भूषण की भाव रंगिणी
लेनिन के दिल की चिनगारी
युग मर्दित यौवन की ज्वाला
जाग-जाग री क्रान्ति कुमारी।

रूस की क्रान्ति सामाजिक परिवर्तन के लिए है। सामाजिक परिवर्तन के राजनीतिक परिवर्तन आवश्यक था। इसलिए लेनिन जारशाही का अन्त किया। भारत के क्रांतिकारी भी अंग्रेजी राज को समाप्त करना चाहते थे। इस प्रकार रूसी क्रांति दिनकर के रचनात्मक संघर्ष का अपरिहारी बन गयी।

2.2. मार्क्सवाद :-

मार्क्सवाद संसार का बहु चर्चित, सर्वाधिक प्रतिष्ठित, अपूर्व क्रान्तिकारी और महान शक्तिशाली चिन्तन है। मार्क्स ने अपने क्रान्तिकारी विचारों द्वारा राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और साहित्यिक जगत को काफी प्रभावित किया है। मार्क्स ने पूँजीवाद की तरह में प्रवेश कर उसके दुष्परिणाम का अनुभव किया। धर्म, इतिहास, संस्कृति, युद्ध आदि के मूल में मार्क्स ने "अर्थ को बैठा पाया। शोषक शोषित, शासक शासित, धनी गरीब, मालिक मजदूर बस इन्हीं दो वर्गों में संसार बँटा हुआ है। व्यक्तिगत पूँजी का विनाशकर वर्ग विहीन समाज की स्थापना करना मार्क्सवाद का अंतिम लक्ष्य है।

मार्क्सवादी विचारधारा के तीन मूल-स्रोत है। 1. जर्मन-दर्शन, 2. अंग्रेजी पारम्परिक राजनीतिक अर्थनीति एवं 3. फ्रान्स की राज्यक्रान्ति। दार्शनिक स्तर पर मार्क्स ने हीगल से प्रेरणा प्राप्त कर उसे भौतिक रूप में प्रस्तुत किया। अंग्रेजी की अर्थनीति के आधार पर पूँजीवादी समाज व्यवस्था की वास्तविकता को स्पष्ट किया और अर्थशास्त्र में अपना नया सिद्धान्त स्थापित किया। भौतिकवादी दर्शन के आधार पर इतिहास को एक नए परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया। फ्रान्स की राज्य क्रान्ति से प्रेरित होकर मजदूरों के संगठन की महत्ता, समाजवादी समाज-व्यवस्था के प्रारूप एवं कम्युनिष्ठ घोषणापत्र को प्रस्तुत किया। इस प्रकार मार्क्स ने अपने भौतिक दर्शन के आधार पर समाजनीति, राजनीति, अर्थनीति आदि जीवन के प्रत्येक अंग को नए एवं वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया। मार्क्स के दर्शन की अन्यतम विशेषता है उसका क्रियात्मक पहलू इसीसे प्रभावित होकर रूस में क्रान्ति हुई तथा संसार में समाजवादी विचारधारा का विकास हुआ।

मार्क्सवाद के सन्दर्भ में डा॰जनेश्वर वर्मा ने कहा है -- " पूँजीवाद का आविर्भाव सर्वप्रथम योरोपीय देशों में विशेषकर इंगलैण्ड, जर्मनी और फ्रांस में ही हुआ था । फलत: पूँजीवाद से उत्पन्न होनेवाली विषमताओं की प्रतिक्रिया स्वरूप विभिन्न साम्यवादी विचारधाराओं का आरम्भ भी योरोप के इन्हीं देशों में हुआ, जिसका चरम विकास हम मार्क्सवाद के रूप में देखते हैं। आरम्भ में मार्क्सवाद विचारधारा यूरोप के पश्चीमी देशों तक ही सीमित थी, परन्तु सोवियत संघ की स्थापना विश्व इतिहास की एक ऐसी घटना थी जिसने समस्त संसार को मार्क्सवाद की ओर आकर्षित किया ।"[1]

मार्क्सवाद का विवेचन करते हुए डॉ॰जनेश्वर शर्मा ने लिखा है -- " यह एक भौतिकवादी जीवन दर्शन है, जो परोक्ष चिन्तन की अपेक्षा भौतिक सम्पन्नतामय, स्वस्थ सामाजिक जीवन को ही अपना लक्ष्य मानता है ।"[2] कोकर के कथनानुसार -- " मार्क्सवाद पहला दर्शन है, जिसका आशय यह दिखाना है कि पूँजीवादी नीवों पर एक समाजवादी समुदाय क्यों कर बनाया जायेगा ।"[3]

मार्क्सवादी चिन्तन का मूल उसका दार्शनिक पक्ष है जो द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है । " आर्थिक अथवा राजनीतिक व्यवस्था को तो उसी का परिणाम अथवा व्यवहारिक रूप मात्र कहा जा सकता है ।"[4] अस्तु " मार्क्सवाद एक प्रकार का नया और वैज्ञानिक मानववाद है जिसे राजनीति और अर्थशास्त्र के क्षेत्र में समाजवाद और

1· डॉ॰ जनेश्वर वर्मा - हिन्दी काव्य में मार्क्सवादी चेतना - पृ॰ 10·
2· - वही - भूमिका - पृ॰ 5·
3· आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में पाश्चात्य चिन्तन - डॉ॰रामविक्रम सैनी पृ॰ - 62·
4· - वही -

साम्यवाद । दर्शन के क्षेत्र में द्वन्द्वात्मक वस्तुवाद और समाज शास्त्र तथा इतिहास क्षेत्र में ऐतिहासिक वस्तुवाद कहा जाता है ।"[1] मार्क्सवादी चिन्तन को समझने के लिए उसके दार्शनिक पक्ष को समझना अनिवार्य है, जिसका आधार " द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद " है ।

2·2·1· द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद :-

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मनुष्य से लेकर प्रकृति के सम्पूर्ण क्रिया-कलाप को परखने और समझने का मार्क्सवादी दृष्टिकोण है, जो द्वन्द्ववाद और भौतिकवाद नामक दो विचार-सरणियों के संयोग से विकसित हुआ है । द्वन्द्ववाद एवं भौतिकवाद अति प्राचीन विचारधाराएँ हैं, आधुनिक युग में नया परिवेश देने का श्रेय हीगल को है । " यह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इसलिए कहा जाता है कि प्राकृतिक घटनाओं को देखने परखने और पहचानने का इसका द्वन्द्वात्मक है और इन प्राकृतिक घटनाओं की इसकी व्याख्या, धारणा एवं सिद्धान्त-विवेचन भौतिकवादी है ।"[2]

भारतीय नीतिशास्त्र में कहा गया है - " धर्मेण हीन: पशुभिर्समान:" के सिद्धान्त के अनुसार " फ्योरबाख " ने मानवधर्म की विवेचन करते हुए कहा है -- " मानव और पशु के बीच का वास्तविक भेद धर्म का आधार है । पशुओं में धर्म नहीं है ।" ईश्वर और मानव का विश्लेषण करते हुए कहा है -- मनुष्य मनुष्य के लिए ईश्वर है ।" इस विचारधारा को मार्क्स ने स्वीकार किया तथा मानवतावादी धारणा को अभिव्यक्त किया । मार्क्स ने भौतिकवाद की व्याख्या करते हुए कहा - पदार्थ वह है जो हमारी

1· हिन्दी की प्रगतिशील कविता - डॉ·रणजीत - पृ· 31·

2·

ज्ञानेन्द्रियों पर आघात करके संवेदना में प्राप्त होता है .... भौतिक जाति, पदार्थ जो कुछ भी प्रकृतिक है, वह मूल है, आत्म, चेतना, संवेदना - जो कुछ भी मानसिक है वह गौण है ।" मार्क्सवाद मानवोय चेतना के प्रति आस्थावान है, वह किसी अज्ञेय सत्ता के प्रति विश्वास व्यक्त नहीं करता । मिथ्या श्रद्धा व भावुकता का प्रबल विरोध करता हुआ प्रत्यक्ष व यथार्थ के प्रति आस्था रखता है । प्राणी की सत्ता ही प्रमुख सत्य है ।

द्वन्द्व सिद्धान्त के अनुसार समूचा अस्तित्व गत्यात्मक है । गति ही विकास है । विकास के समय के अनुसार जो अवस्था स्थिर है और जिसका हम अध्ययन करते हैं, उसको वाद (Thesis) कहा जाता है । जब उस अवस्था के विरोधी उपकरण प्रकट रूप से वाद का विरोध करने लगते हैं तो उस अवस्था को प्रतिवाद (Antithesis) कहा जाता है । इन दोनों अवस्थाओं से एक तीसरी अवस्था का भी जन्म होता है, जिसे संवाद (Synthesis) कहते है । तीसरी परिस्थिति में पिछले दिनों परिस्थितियों के कुछ अंश विद्यमान रहते हैं और उनका समुच्चय नई परिस्थिति में धीरे-धीरे होता है । यह विकास मात्रात्मक (परिमाणात्मक) से गुणात्मक परिवर्तन की ओर चलता है ।

इस प्रकार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के प्रमुख सिद्धान्त ये कहे जा सकते हैं 1. अज्ञेय सत्ता का कोई महत्व नहीं है 2. श्रद्धावाद के प्रति आस्थावान नहीं है 3. अध्यात्मवाद की आवश्यकता को अस्वीकारता हुआ आत्मा के विराट् तत्व के प्रति विश्वास नहीं रखता है 4. प्रकृति या भौतिक संसार का अस्तित्व वैज्ञानिक सत्य है 5. आदर्शवादी विचारधारा को स्थान नहीं है 6. अज्ञेय पदार्थ विज्ञापन के माध्यम से ज्ञेय सम्भव है आदि ...

2·2·2· ऐतिहासिक भौतिकवाद :-

जब द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पध्दति से सामाजिक जीवन की व्याख्या की जाती है तो उसे ऐतिहासिक भौतिकवाद कहा जाता है । ऐतिहासिक भौतिकवाद समाजोत्थान के लिए तार्किक भौतिक सिध्दान्तों का ही प्रस्तुतीकरण है । सत्यरूपेण यह इतिहास की आर्थिक व्याख्या है । इसके अनुसार इतिहास का पूर्ण निर्माण आर्थिक दशाओं द्वारा होता है ।"[1] सर्वप्रथम कार्लमार्क्स ने इतिहास को इस दृष्टि से देखा । इसके कारण समाजवादी आन्दोलन का आरम्भ हुआ । मार्क्स ने समाज व उत्पादन प्रक्रिया की व्याख्या करते हुए कहा -- मनुष्य विवेकशील प्राणी है । वह अनुभव करता है कि अकेले रहने की अपेक्षा संघबध्द होकर अपने परिश्रम को वह अधिक उपयोगी बना सकता है और जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक सामग्री का सुगमता पूर्वक उत्पादन कर सकता है । उत्पादन की इस प्रक्रिया में वह एक ओर बाह्य प्रकृति से अपना सम्पर्क स्थापित करता है, तो दूसरी ओर समाज के अन्य व्यक्तियों से भी अपना सम्बन्ध स्थापित करता है । ऐतिहासिक भौतिकवाद के प्रमुख सिध्दान्त ये हैं —

1· उत्पादन पध्दति का सामूहिकीकरण
2· वर्ग संघर्ष एवं क्रान्ति के सिध्दान्त
3· सर्वहारा अधिनायकत्व या एकाधिपत्य
4· राज सत्ता के लोप और वर्ग-विहीन समाज की अवधारणा

1· आधुनिक राजनीतिक विचारधाराएँ - डॉ· विजय कुमार अरोडा पृ· - 63·

2·2·2·1· उत्पादन पध्दति का सामूहिकीकरण :-

ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार उत्पादन-पध्दति समाज के विकास में निर्णायक भूमिका अदाकरती है । उत्पादन शक्तियाँ उत्पादन के साधनों और सर्वोपरि श्रम के सभी औजारों, जिन्हें मनुष्य ने तैयार किया है और उन लोगों का जो भौतिक सम्पदा पैदा करते हैं, कुल योगी होती है । भौतिक उत्पादन श्रम की वस्तुओं साधनों के बिना असम्भव है । श्रम का साधन है -- मशीनें, साज-सामान, औजार, उत्पादन के लिए काम आने वाली इमारतें, परिवहन आदि । किन्तु यदि मनुष्य हाथ न लगाये तो बढ़िया-से-बढ़िया मशीन भी धातु का व्यर्थ अम्बर मात्र बनकर रह जायेगी । मनुष्य में ही औजार को चालू करने और भौतिक उत्पादन का संगठन करने की क्षमता है । इसीलिए मनुष्य उत्पादन का जरुरी उपादान है ।

उत्पादन की प्रक्रिया में जो सम्बन्ध होता है, वही उत्पादन सम्बन्ध है, जो स्वामित्व के रुप पर आधारित होता है । " ये सम्बन्ध शोषण-मुक्त मनुष्यों में परस्पर सहायता और सहकारिता के सम्बन्ध हो सकते हैं । ये सम्बन्ध दासत्व प्रभुत्व के हो सकते हैं । अन्त में ऐसे भी हो सकते हैं जो उत्पादन सम्बन्धों के एक रुप से दूसरे रुप की ओर संक्रमण दशा में हों । इन उत्पादन सम्बन्धों का चाहे जो लक्षण हो, हर समय, हर सामाजिक अवस्था में वे उत्पादन के उतने ही महत्वपूर्ण उपकरण होंगे जितनी महत्वपूर्ण समाज की उत्पादन शक्तियाँ होंगी । उत्पादन-शक्तियों और सम्बन्धों की एकता ही उत्पादन-पध्दति कहलाती है ।

उत्पादन की एक विशेषता यह है कि जब भी उसमें परिवर्तन या विकास होता है तो उसका प्रारम्भ उत्पादक साधनों में से ही होता है। इन उत्पादक साधनों में भी परिवर्तन उत्पादक यंत्रों में होता है। इससे सिद्ध है उत्पादन शक्ति अत्यन्त क्रान्तिकारी तथा संघरणशील है। जब समाज की उत्पादन शक्ति परिवर्तित या विकसित हो जाती है तब उस पर निर्भर रहने वाले - मनुष्यों और उत्पादन के बीच के सम्बन्ध भी बदल जाते हैं -- मनुष्यों और मनुष्यों के बीच के सम्बन्ध भी बदलते हैं - विचार-धारा बदलती है, और इस प्रकार समाज बदल जाता है।

मार्क्स ने उत्पादन के इस आर्थिक पहलू को स्वीकार करके सारे मानव इतिहास का मूल्यांकन किया। इससे न केवल इतिहास की नवीन व्याख्या दी जा सकी वरन् इतिहास द्वारा इस सिद्धान्त की पुष्टि भी हुई। उत्पादन सम्बन्धों का विवेचन करते हुए इतिहास को मार्क्स ने पाँच भागों में विभक्त किया है।

1. आदिम साम्यवाद युग
2. दास युग
3. सामन्त युग
4. पूँजीवादी युग तथा
5. समाजवादी युग

(क) आदिम साम्यवाद युग :-

आदिम साम्यवादी व्यवस्था में, उत्पादन सम्बन्धों का आधार, उत्पादन साधनों पर सामाजिक स्वामित्व का होने से इसे साम्यवादी कहा गया है। मानव इतिहास की यह प्रथम अवस्था मानी गई है। इसमें

उत्पादन-शक्तियों का स्तर अत्यन्त नीचा था, अत: उत्पादन-सम्बन्ध भी तदनुरूप थे। वे उत्पादन के साधनों के समान स्वामित्व पर आधारित थे और इसलिए लोगों में पारस्परिक सहायता के सम्बन्ध थे। धीरे-धीरे उत्पादन शक्तियां विकसित हुई। लकड़ी और पत्थरों के औजारों का स्थान पहले काँसे के औजारों ने और फिर लोहे के औजारों ने ले लिया। उत्पादन के इस बदले हुए ढंग ने दास व्यवस्था को जन्म दिया। आदिम साम्यवाद का स्थान दास प्रथा ने ले लिया।

(ख) दास युग :-

दास व्यवस्था में स्वामी और दास प्रकट हुए, जिनका परस्पर प्रभुत्व और अधीनता का रिश्ता था। कुछ समय तक तो इन सम्बन्धों ने उत्पादन-शक्तियों को बढ़ावा दिया किन्तु बाद में ये सम्बन्ध उत्पादन के विस्तार में बाधा होने लगे। मुख्य उत्पादन-शक्ति (दास) अमानवीय शोषण के कारण और मन दोनों ही से हीन स्थिति में पहुँच गयी। आगे चलकर उत्पादन शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों का अन्तर्विरोध तीव्र होकर विद्रोह के रूप में प्रकट हुआ। विद्रोह ने दास व्यवस्था की नींव को उखाड़ दिया। कालान्तर में कृषि और उद्योग धन्धों का और अधिक विकास हुआ और दास वर्ग के लोगों से खेती करायी जाने लगी। निर्वाह के लिए उपज का एक भाग भी उन्हें मिलने लगा। इस उत्पादन पद्धति से सामन्तवादी व्यवस्था का विकास हुआ।

(ग) सामन्त युग :-

सामन्तवादी व्यवस्था में भी उत्पादन-पद्धति से सामन्तवादी व्यवस्था का विकास हुआ। इस युग में दासों को उत्पादक साधनों (भूमि आदि) पर स्वामित्व तो न मिला, किन्तु उत्पादन का

उत्तरदायित्व उन्हो पर ठहराया गया । दास स्वामो भू-स्वामियों के रूप में परिवर्तित हो गए । कृषकों को खेती करने के लिए अलग-अलग खेत दिये गए । कृषक को उत्पादन में से थोडा अंश भू-स्वामो को देना पड़ता था । इस व्यवस्था में कृषक ने कृषि-यन्त्रों में सुधार किया तथा खादों का प्रयोग कर कृषि उत्पादन बढाने का प्रयास करने लगा । इससे व्यापार अधिकाधिक विकसित हुआ और कस्बों को संख्या बढ़ने लगो । कृषक युध्द में कुशलता प्राप्त करने लगे और भू-स्वामो से टकराने लगे । कृषक और भू-स्वामो के स्वार्थों में संघर्ष होने लगा । इस समाज-व्यवस्था में कहों-कहों किसानों और जमोन्दारों में खुलकर संघर्ष हुए ।

(घ) पूँजोवादो युग :-

पूँजोवाद धन-अर्जन का एक खास ढंग है । इस व्यवस्था में बहुत से मजदूर एकत्रित होकर उत्पादन में भाग लेते है, परन्तु मजदूरों के श्रम का फल को पूँजोपतियों (उत्पादन के साधनों के स्वामियों का) का एक छोटा-सा दल हड़प जाता है । पूँजोवाद का यहो मौलिक अन्तर्विरोध है । इसो अन्त - र्विरोध के कारण मजदूर वर्ग सजग और संगठित होकर पूँजोवादो व्यवस्था के विरुध्द विद्रोह या वर्ग-संघर्ष करता है । इसो अन्तर्विरोध के कारण मजदूर वर्ग सजग और संगठित होकर पूँजोवादो व्यवस्था के विरुध्द विद्रोह या वर्ग संघर्ष करता है और परिणाम स्वरूप समाजवादो व्यवस्था का जन्म होता है ।

(च) समाजवादो युग :-

समाजवाद युग में उत्पादन-साधनों पर समाज का अधिकार हो जाता है । उत्पादन पर किसो एक व्यक्ति का अधिकार नहों रहता । इससे शोषण आदि के लिए भी कोई स्थान नहों रहता । व्यक्तिगत जोवन का संघर्ष समाप्त हो जाने से सामाजिकता का महत्व बढ़ जाता है ।

इस व्यवस्था में उत्पादन योजनाबद्ध रीति से आवश्यकतानुसार किया जाता है। समाज में वर्ग नहीं टिक पाते। राज्य उत्पादन की अराजकता को समाप्त करते करते अपने को भी समाप्ति की ओर अग्रसर करता है। व्यक्ति को अपने सामाजिक संगठन के स्वामी होने का अवसर मिल जाता है। उसके वश में प्रकृति की शक्तियाँ होती है। उसे सच्ची स्वतन्त्रता मिल जाती है। अंतर्विरोध, संघर्ष, वर्गवाद के समाप्त होने पर व्यक्ति इतना उठता जाता है कि धीरे-धीरे शासन व्यवस्था भी प्राय: हो जाती है। यह व्यक्ति और समाज की चरम विकसित अवस्था होगी।

2·2·2·2· वर्ग संघर्ष एवं क्रान्ति के सिद्धान्त :-

इतिहास का विकास आर्थिक सम्बन्धों के परिवर्त्तन का परिणाम है। इन आर्थिक परिवर्तनों के मूल आधार वर्ग हैं। एक वर्ग में सभी व्यक्ति या व्यक्ति समूह आजाते हैं जिनके आर्थिक सम्बन्ध एक धरातल पर होते हैं। इस वर्ग का सामाजिक उत्पादन की पद्धति में एक निश्चित स्थान होता है। इनका आपस में तथा उत्पादन के साथ सम्बन्ध एक निर्धारित प्रक्रियानुसार चलता है। एक वर्ग दूसरे से स्वार्थवश टकराता है। वर्गों में संघर्ष छिड़ना स्वाभाविक तथा अनिवार्य है। वर्ग जहाँ होंगे वहाँ शोषण होगा, क्योंकि वर्गों का निर्माण ही शोषण के लिए होता है। यह शोषण आर्थिक आधारों पर खड़ा होने के कारण भौतिक है। उत्पादन साधनों पर जिस वर्ग का अधिकार होता है शासन सत्ता पर भी उसका प्रभाव रहता है। इतना ही नहीं उस युग की विचारधारा भी उसके समर्थन करती है। कला तथा संस्कृत आदि पर उसका अंकुश अपने आप हो जाता है।

प्रत्येक युग में जिस वर्ग के हाथ उत्पादन-साधन होते हैं - जो शासक होता है, उसी की विचारधारा चलती है, दूसरी विचारधारा जो शोषितों का प्रतिनिधित्व करती है, इसके विरोध में आ खड़ी होती है । उत्पादन तथा वैचारिक दोनों क्षेत्रों में वर्गवाद आमने-सामने खड़ा होकर संघर्ष करता है ।

इसे वर्ग संघर्ष कहा गया है । मार्क्स सुधार को असम्भव और क्रान्ति को अनिवार्य मानता था । " क्रान्ति की प्रक्रिया सुधार की प्रक्रिया से इस अर्थ में भिन्न है कि सुधारक समाज के मूल ढाँचे में परिवर्तन लाये बिना यथास्थिति को परिवर्तित करने का प्रयास करते हैं जबकि क्रान्तिकारी समाज में व्याप्त त्रुटियों को दूर करने के लिए समाज में मूलभूत अथवा पूर्णरूपेण परिवर्तन आवश्यक मानते हैं । "[2]

मार्क्सवाद वर्ग-विहीन समाज का समर्थक है और वे मानते हैं कि वास्तविक स्वतन्त्रता व समानता वर्गहीन समाज में ही सम्भव हो सकती है । उत्पीड़ित और उत्पीड़क, शोषित और शोषक में कोई समानता न तो है और न हो सकती है । जब तक स्त्रियाँ पुरूषों के कानूनी विशेषाधिकारों से मुक्त नहीं होती, जब तक मजदूर पूँजी के जुए से स्वतन्त्र नहीं होते, जब तक मेहनतकश किसान पूँजीपतियों, जागीरदारों और व्यापारियों से जुए से स्वतन्त्र नहीं होते, तब तक सच्ची स्वतन्त्रता न तो है और न हो सकती है । अतः पूँजीवादी शोषण से मुक्ति के लिए मजदूरों को अपना संगठन एक प्रपीड़ित वर्ग के रूप में करना चाहिए और अपने वर्ग को ऊँचा उठाकर शासक वर्ग की स्थिति में ले आना चाहिए । सर्वहारा के संगठन और उसकी सशक्त क्रान्ति द्वारा ही शोषण का अन्त सम्भव है ।

2·2·2·3· सर्वहारा अधिनायकत्व या एकाधिपत्य :-

सर्वहारा एकाधिपत्य एक क्रान्तिकारी शक्ति है, जिसका आधार पूँजीपतियों के विरुद्ध बल का प्रयोग है । यह एकाधिपत्य सफल सामाजिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप तथा पूँजीवादी राज्यतन्त्र के चकनाचूर हो जाने पर प्रकट होता है । जहाँ तक समाजवादी क्रान्ति का सम्बन्ध है । मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का यही आशय निकलता है कि सर्वहारा वर्ग शासक वर्ग के रूप में सुसंगठित होकर राजसत्ता पर अपना एकछत्र अधिकार जमा ले । एकछत्र राजनीतिक अधिकार ही सर्वहारा अधिनायकत्व है ।

सर्वहारा अधिनायकत्व के तीन पहलू हैं । जोर-जबर्दस्ती का पहलू सर्वहारा अधिनायकत्व का पहला पहलू है । किसी भी देश में पूँजीपति वर्ग राजनीतिक सत्ता में वंचित हो जाने से अपनी हानि को सरलता से स्वीकार नहीं कर लेता, अपितु सर्वहारा का तीव्रता से विरोध करता है । पूँजीपतियों के विरोध को बलपूर्वक कुचलना सर्वहारा अधिनायकत्व का प्रथम दायित्व है । इसका दूसरा पहलू है रचनात्मक पहलू । समाजवादी क्रान्ति ऐसे समय आरम्भ होती है जिस समय कोई समाजवादी आर्थिक रूप तैयार नहीं हुए रहते । समाज के आर्थिक जीवन को संगठित करना, पूँजीवाद से श्रेष्ठ - समाजवाद के अर्थतन्त्र का निर्माण करना सर्वहारा अधिनायकत्व का ही काम है । शैक्षिक पहलू सर्वहारा अधिनायकत्व का तीसरा पहलू है । सामूहिक कृषि के लाभों के विषय में किसानों को समझने के लिए देर तक कड़ी मेहनत और लगन के साथ शिक्षा कार्य करने की आवश्यकता है । इसलिए पुरानी शिक्षा प्रणाली का परित्याग करते हुए अब हमारा यह कर्त्तव्य है कि उसमें से उन चीजों को ग्रहण कर लें जो असली कम्युनिष्ट शिक्षा के लिए आवश्यक है । इस प्रकार विशाल जन समुदाय के लिए जनतन्त्र

को व्यवस्था और जनता के शोषकों और उत्पीड़कों का बलपूर्वक दमन, जनतन्त्र से उनका बहिष्कार यही मुख्य परिवर्तन हैं जो पूंजीवादी व्यवस्था से कम्युनिष्ट व्यवस्था तक के संक्रमण काल में जनवाद में घटित होते हैं।

2·2·2·4· राजसत्ता के लोप और वर्गविहीन समाज की अवधारणा :-

मार्क्सवाद का मुख्य लक्ष्य है - राजसत्ता का लोप और वर्ग-विहीन समाज की स्थापना। सर्वहारा एकाधिपत्य तो उस लक्ष्य तक पहुँचाने का प्रारम्भिक साधन मात्र है। सर्वहारा की सत्ता स्थापित हो जाने के बाद वह उत्पादन के समस्त साधनों को सामाजिक घोषित कर देगा। उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार हो जाने पर मात्र उत्पादन की पध्दति का भी अन्त हो जायेगा। आर्थिक व्यवस्था में इस प्रकार सुधार हो जाने से वर्ग-संघर्ष का मूल कारण ही समाप्त हो जायेगा। ऐंगेल्स के कथनानुसार " इस अवस्था में समाज का उत्पादन पहले से बनी योजना के अनुसार हो सकेगा। उत्पादन का विकास हो जाने से समाज में विभिन्न वर्गों का अस्तित्व अनावश्यक और निरर्थक बन जायेगा। जैसे-जैसे सामाजिक उत्पादन के क्षेत्र में अराजकता दूर होती जायेगी, वैसे-वैसे राज्य के राजनीतिक अधिकारों का भी अन्त होता जायेगा।"[1] कम्युनिष्ट समाज में राजसत्ता को बलपूर्वक मिटाया नहीं जायेगा, वरन् उपयोग में न आने के कारण वह एक व्यर्थ की वस्तु बनकर शनैः-शनैः स्वयं ही मुरझाकर मिट जायेगी। जनतन्त्र भी राजसत्ता का ही एक रूप है और इस नाते उसके साथ विरोधी वर्ग को दबाने की भावना भी अनिवार्य रूप में संलग्न है। समाज के सम्पूर्ण व्यक्तियों

1· ऐंगेल्स, समाजवाद - वैज्ञानिक और काल्पनिक - पृ· 48·

के लिए इसमें भी स्वतन्त्रता नहीं मिल पाती है । अतः जनवाद की उपलब्धि के साथ ही राजसत्ता का अथवा राजसत्ता के रूप में जनतन्त्र का लोप हो जाना भी अवश्यम्भावी है । उस समय जनहित की भावना प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव का एक अंग हो जायेगी ।

2·2·3· मार्क्स की साहित्यिक मान्यताएँ :-

साहित्य के प्रति मार्क्सवादी दृष्टिकोण, उसका विश्लेषणात्मक कार्य-कारण सम्बन्धों की खोज करनेवाले वैज्ञानिक पक्ष पर जोर देता है । वह साहित्य को उसके सामाजिक-आर्थिक मूलाधारों के सन्दर्भ में रखकर देखता है और उसका विश्लेषण करता है । उनके अनुसार द्रव्य ही " समस्त मानवीय गुणों के परिवर्तन की क्षमता स्वीकार करने का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि भावधारा के परिवर्तन के कारण भौतिक सामाजिक परिस्थितियों को माना गया ।

मार्क्स के अनुसार -- " भावधारा का कोई स्वतन्त्र इतिहास नहीं है, भावधारा का इतिहास मूलतः मनुष्य के मनुष्य के सामाजिक जीवन का इतिहास है । इसलिए साहित्य, दर्शन आदि सभी मानस-सृष्टियाँ मनुष्य के सामाजिक जीवन से सम्बद्ध है ।"[1] आदर्शवादियों ने विचार की निरपेक्ष सत्ता का विवेचन किया था । मार्क्स उसके विरोधी थे । उनके अनुसार मनुष्य के मानस-व्यवहार का प्रत्यक्ष आधार भौतिक व्यवहार है । " विचारों, अवधारणाओं, चेतना की उद्भावना सबसे पहले तो मनुष्य के भौतिक क्रिया कलाप तथा भौतिक सम्पर्क से - जो वास्तविक जीवन की भाषा-संगुम्फित है ।

1· मार्क्सवाद और साहित्य, अवतरणिका - पृ· 2·

इन दार्शनिक संकल्पनाओं के आलोक में यह स्वीकार किया गया है कि साहित्य आर्थिक सम्बन्धों और सामाजिक व्यवस्थाओं की प्रतिक्रिया है । काव्य और कला सामाजिक जीवन के भौतिक धरातल से आविर्भूत होकर फिर सामाजिक जीवन के निर्माण में भी योग देते हैं ।

मार्क्स ने साहित्य और कला के बहिरंग पर ही नहीं, अन्तरंग पर भी विचार प्रस्तुत किये हैं । उदाहरणार्थ, कला के आस्वादन आदि से सम्बद्ध उक्तियाँ ली जा सकती है । डॉ॰ शिव कुमार मिश्र ने मार्क्स की ए कण्ट्रव्यूशन दी
क्रिटिक आफ पोलिटिकल इकानोमी " शीर्षक कृति के आधार पर उनकी साहित्यिक मान्यताओं का सार इस प्रकार बताया है -- साहित्य एवं कला विचारधारा का ही एक रूप है । वे मूलत: समाज के आर्थिक-भौतिक जीवन से उत्पन्न एवं उस पर स्थित तथा आधारित हैं । आर्थिक भौतिक धरातल पर परिवर्तन होने के साथ ही साहित्य, कला अथवा विचारधारा के अन्य रूपों में भी क्रमावेश उसी तेज़ी के साथ परिवर्तन हो जाता है तथा ऐसे परिवर्तनों पर विचार करते समय हमें उत्पादन की आर्थिक परिस्थितियों एवं विचारधारा के रूप के बीच भेद करना चाहिए । [1]

2·2·4· हिन्दी काव्य में मार्क्सवादी विचारधारा : -

विश्वव्यापी राजनीतिक आन्दोलन एवं घटनाओं से भारत भी प्रभावित होता रहा, रूसी क्रांति के सफलता लन्दन में लेबर पार्टी की विजय, चीन में याटसेन के नेतृत्व का प्रभुत्व आदि ने भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग के विचारकों को प्रभावित किया । उसका नतीजा यह हुआ कि भारत में

1· मार्क्सवादी साहित्य - चिन्तन - पृ· 195·

मार्क्सवादी चिन्तनधारा का प्रभाव जब सामाजिक जीवन-क्षेत्र पर पड़ने लगा तब साहित्य क्षेत्र भी इससे प्रभावित होने लगा । फलस्वरूप सन् 1936 में हिन्दी काव्य क्षेत्र में प्रगतिवाद का जन्म हुआ जो लगभग दो दशक तक हिन्दी कविता की मुख्यधारा रहा । हिन्दी के प्रसाद, पंत, निराला, दिनकर, माखनलाल चतुर्वेदी आदि पर मार्क्सवाद का प्रभाव पड़ा । दलित, शोषित, सर्वहारा वर्ग के प्रति सहानुभूति पनपने लगी । सामाजिक रूढ़ियों पर चोट की जाने लगी । व्यंग्य का प्रयोग तीखा किया जाने लगा और आशा के स्वर उभरे । प्रगतिवादी कवियों के अतिरिक्त राष्ट्रीय-संस्कृति, छायावादी तथा नव्य छायावादी धाराओं को प्रभावित किया । प्रयोगवाद तथा नयी कविता पर भी मार्क्सवादी समाज दर्शन तथा कला दृष्टि का प्रभाव रहा है । इस प्रकार हिन्दी साहित्य पर मार्क्सवादी चिन्तन का प्रभाव इतना व्यापक है कि उसका कोई-सा भी साहित्य रूप उससे अछूता नहीं है ।

दिनकर का युवाकाल भारतीय इतिहास का वह युग था जब भारत की राष्ट्रीयता और ब्रिटिश साम्राज्यवाद से लोहा ले रही थी । मध्यवर्ग में शासन सत्ता के प्रति घोर अविश्वास था और वे विदेशी राज के शिकंजों से मुक्तिपाने के लिए हर प्रकार का बलिदान करने के लिए सन्नध्द थे । दिनकर उसी मध्यवर्ग के एक संवेदनशील युवक थे । जो जवाहर, सुभाष, जयप्रकाश और नरेन्द्रदेव के साथ था । जो बिना स्वराज्य प्राप्ति के क्षण भी चुप नहीं बैठना चाहता था ।§ परन्तु गांधी के व्यक्तित्व की अध्यधिक प्रेरणा के सामने जनता की आग धीमी पड़ गई ।§

इस सन्दर्भ में डॉ॰कामेश्वर शर्मा ने लिखा है कि - " दिनकर का बाल्यकाल घोर देहात में बीता है घोर देहात, जिसकी भूमि को न जाने कब से गंगा अपने पावन जल से सींचती आ रही है । हरी-भरी भूमि,

धान और गेहूँ के लहलहाते पौधे, सरसों के फूल, उन्मुक्त पवन और मौजों में लहराती हुई गंगा, दिनकर के बालनयनों ने इन्हें हर्ष और उल्लास के साथ देखा था । उजड़ते खलिहान, क्षीणकाय किसान, जमीन्दारों के शोषण, भूख से तड़पते हुए बच्चे - रोदन और उत्पीडन का साम्राज्य-दिनकर के किशोर नयनों ने इन्हें विस्मय और प्रश्न की नजरों से देखा था । मनों गल्ला पैदा करनेवाले किसानों को इसने भूख से तड़पते देखा था, घड़ों पसीना बहाते देखा था और फिर उदासी भरी संध्या के बाद उन्हें भर लोटा पानी पीकर संतोष भी करते देखा था । मुट्ठि भर शोषक, किस प्रकार अगणित शोषितों को भेड़ों की तरह बेगार में हांककर ले जाता है, पीटता है, जबर्दस्ती भूख काम करवाकर छूछे हाथ घर भेज देता है -- दिनकर के अर्द्धचेतन नयनों ने इन्हें भौहों पर चढ़कर देखा था ।"

इतिहास के विद्यार्थी होने के कारण दिनकर ने देश, विदेश के इतिहास का गहरा अध्ययन किया । फ्रांस की राज्य क्रांति अमेरिका की स्वतंत्रता, जार के अत्याचार, मार्क्स के विचार, लेनिन के अनोखे कार्य और नेपोलियन की युक्तियाँ - सबका अवलोकन किया ।

इस संदर्भ में दिनकर की बातें द्रष्टव्य है । "मेरी कविता के भीतर जो अनुभूतियाँ उतरी वे विशाल भारतीय जनता की अनुभूतियाँ थी, वे उस काल की अनुभूतियां थीं जिसके अंक में बैठकर मैं रचना कर रहा था । कवि होने की सामर्थ्य मुझमें शायद नहीं थी । यह क्षमता मुझमें भारतवर्ष का ध्यान करने से जागृत हुई । यह शक्ति मुझमें भारतीय जनता की आकुलता को आत्मसात करने से स्फुरित हुई ।"

---

1. चक्रवाल - भूमिका - दिनकर - पृ.

2·2·5· दिनकर के काव्य में मार्क्सवादी दर्शन :-

दिनकर ने जब हिन्दी काव्य जगत् में पदार्पण किया, भारतीय राजनीति में एक हलचल मची हुई थी और सम्पूर्ण देश में क्रांति की आग सुलग रही थी। कांग्रेस के परम्परावादी तथा दक्षिणपंथी राजनीतिज्ञों की नीति के विरुद्ध जवाहरलाल और सुभाषचन्द्र जैसे सेनानी अपनी आवाज उठाने लगे थे। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् ब्रिटिश सरकार के दमनचक्र के आतंक के अवसाद पर पैर रख कर जनता फिर नये युद्ध के लिए सन्नद्ध हो गई थी। देश के युवक विशेष रूप से जागरूक हो गए थे। सारे देश में युवक समाजों की नींव पड़ी, जिनमें स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए क्रान्तिकारी, हिंसात्मक मान्यताओं और पद्धतियों के विवेचन विश्लेषण के साथ ही देश के सामाजिक और आर्थिक प्रश्नों और समस्याओं पर भी विचार विमर्श होता था। इन्हीं के द्वारा जनता को सुभाष और जवाहर जैसे सैनानी मिले, जिनके एक संकेत पर शिक्षित युवक समाज ब्रिटिश सरकार की नींव हिलाने के लिए तूफान खड़ा कर देते थे। सन् 1927 में सुभाषचन्द्र बोस ने एक नव युवक समाज का संगठन किया, जिसमें अविलम्ब पूर्ण स्वतन्त्रता को अपना लक्ष्य घोषित किया, मजदूरों और किसानों के मताधिकार की मांग की और राष्ट्रीय आन्दोलन में उनके सक्रिय योग पर बल दिया। बंगाल और बिहार के युवक उनके इस आह्वान पर अपना सर्वस्व होम देने को तैयार हो गए।

इन दोनों युवक नेताओं के विषय में प्रो· केटमन (Prof. Coatman) के विचारों को उद्धृत करना इस प्रसंग में अनुपयुक्त न होगा 8 उधर श्री योगेश चटर्जी के नेतृत्व में हिन्दुस्तान रिपब्लिकन ऐसोसिएशन के क्रांतिकारी सदस्य, बंगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश में विध्वंस, विद्रोह, और अंग्रेजी

अफसरों की हत्याओं का संगठन करने में व्यस्त थे। उनका लक्ष्य था भारत वर्ष में संघात्मक गणतन्त्र की स्थापना करना। 9 अगस्त 1925 को काकोरी की दुर्घटना हुई। मुरादाबाद-लखनऊ लाइन पर स्थित काकोरी स्टेशन के निकट, इस संस्था के सदस्यों ने सरकारी खजाना लूट लिया। इस संगठन के मुख्य सूत्रधार थे श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल जिन्हें पहले भी बनारस षड्यन्त्र केस में लम्बी सजा मिल चुकी थी। काकोरी केस के अपराधियों को बहुत कड़ी सजायें दी गई लेकिन उस दण्ड से भारत की विद्रोहाग्नि और प्रज्जवलित हो उठी।

1917 की रूसी क्रांति ने पूरे संसार में हलचल मचाया। उसका असर भारत में भी पड़ा। भारत में साम्यवादी पार्टी की स्थापना हुई। इससे भारतीय राजनीति नई मोड ली। साम्यवादी पार्टी के फलस्वरूप ट्रेड-यूनियन आन्दोलन जोर पकड़ रहा था। जनवरी सन् 1927 में किसान मजदूर दल की स्थापना हुई, जिसकी शाखायें बम्बई कलकत्ता तथा अन्य व्यापारीय केन्द्रों में खुली। इस प्रकार किसानों और मजदूरों के जीवन में जागृति की एक नई लहर आ गई। सन् 1927 में बंगाल-नागपुर रेल्वे के कार्यकर्ताओं की लम्बी हड़ताल चली। गुजरात में बारदोली के सत्याग्रह ने सम्पूर्ण देश के कृषकों में चेतना की लहर उत्पन्न कर दी। बारदोली के किसानों ने सरदार वल्लभ भाई पटेल के लौह नेतृत्व में, भूमिकर से छूट प्राप्त करने के लिए सरकार के विरुद्ध सत्याग्रह किया। पंजाब और बंगाल में आतंकवादी दल सक्रिय हुआ। भगतसिंह आदि युवकों के साहसपूर्ण कार्यों से क्रान्ति की लहरें भारतीयों के रक्त में दौड़ने लगी।

उपर्युक्त ज्वालामयी परिस्थितियों ने दिनकर का मार्ग प्रशस्त कर दिया। उनकी सहानुभूति आस्था से ही उग्रदल के विरोधों और विद्रोहों के साथ थी। इस प्रकार मार्क्सवाद की सभी विशेषतायें दिनकर काव्य

में विद्यमान हैं। उनकी रचनाओं में शोषित एवं श्रमिक वर्ग के प्रति सहानुभूति, शोषण एवं अत्याचार का विरोध, श्रेणी सजगता तथा शोषक वर्ग के प्रति घृणा एवं विद्रोह की भावना, जनशक्ति में आस्था, विजय में विश्वास, अत्याचार, अनीति और विषमता को मिटाकर साम्य के आधार पर समाज के नव निर्माण के लिए क्रान्ति का आवाहन, जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण, आत्मनिर्भरता एवं स्वाभिमान की भावना, मानवतावाद का समर्थन, समाजवादी विधान में विश्वास आदि को वाणी दी गयी है। उनकी " रेणुका " की कुछ रचनाएँ, " हुँकार ", " सामधेनी ", " कुरुक्षेत्र ", " रश्मिरथी ", " परशुराम की प्रतीक्षा ", " दिल्ली ", " नीम के पत्ते " आदि अनेक रचनाएँ उनकी प्रगतिवादी भावनाओं के ज्वलंत प्रमाण हैं।

वर्ग वैषम्य और वर्ग संघर्ष की प्रवृत्ति :-

मार्क्सवादी जीवन दर्शन के अनुसार प्रत्येक देश और काल में समाज में दो प्रमुख वर्गों में विभक्त रहता है। एक वर्ग विशेष अधिकार प्राप्त उत्पादन के स्वामियों अर्थात् शोषकों का होता है और दूसरा वर्ग श्रमिकों अर्थात् शोषितों का। इन दोनों वर्गों के हित परस्पर विरोधी होते हैं।

मार्क्सवादी मान्यता के अनुसार " साहित्यकार को दोनों वर्गों के बीच चलनेवाले संघर्ष का चित्रण करना चाहिए। जो साहित्य वर्ग-संघर्ष का चित्रण न करके वर्ग-संघर्ष से बच निकलने का प्रयत्न करता है, वह भविष्य के लिए अपना स्पष्ट दृष्टिकोण प्रस्तुत नहीं करता।" [1]

---

1. पाश्चात्य काव्य शास्त्र - मार्क्सवादी परम्परा - सम्पादन - नागेन्द्र पृ. 5.

कुरुक्षेत्र में दिनकर ने प्रतिपादन किया है कि " समाज में विषमता-जन्य अन्याय मानसिक क्षोभ पैदा करता है । जब यह क्षोभ चरम सीमा पर पहुँच जाता है । तब अन्याय को मिटाने के लिए जो अन्यायग्रस्त होता है, वह युद्ध को आमन्त्रण देता है । जब तक अविवेक, विषमता समाप्त नहीं हो जाती और गांधीवादी पद्धति पर सर्वोदयी साम्यवाद की प्रतिष्ठा नहीं हो जाती, तब तक विवेकशील मनुष्य को निरन्तर उसके लिए संघर्ष करते रहना चाहिए ।

दिनकर के काव्य में वर्ग-वैषम्य को दूरकर समता-प्रदान समाज की स्थापना का स्वर मुखर रहा है । मार्क्स के अनुसार पूँजीवाद से मुक्ति पाने के लिए हिंसात्मक क्रान्ति अनिवार्य है । दिनकर जी भी प्रारम्भ से ही अपने काव्य में वर्ग-विषमता को दूर करने, आर्थिक-शोषण-क्रम को समाप्त करने, अन्याय का निराकरण करने तथा स्वत्व प्राप्ति के निमित्त उन्मुख स्वरों में क्रान्ति का समर्थन ही नहीं, आह्वान भी करते रहे । उन्होंने मुक्त कंठ से मार्क्स के साम्यवाद का जयघोष किया --

> जय विधायिके अमर क्रान्ति की । अरुण देश की रानी,
> रक्त कुसुम-धारिणी ! जगत्तारिणी ! जय नवशिवे ! भवानी !
> जगज्ज्योति, जय-जय, भविष्य की राह दिखाने वाली
> जय समत्व की शिखा, मनुज की प्रथम विजय की लाली । [1]

---

1. रामधेनी - दिनकर - पृ॰ 66॰

क्रान्तिमत चेतना :-

क्रान्तिकारी साहित्यकार समकालीन वातावरण एवं व्यवस्था से सन्तुष्ट नहीं होता तब उसका नाश कर, नव-निर्माण करना चाहता है। यही क्रान्ति का रूप हम दिनकर के सम्पूर्ण साहित्य में पाते हैं। दिनकर की क्रान्ति जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त है। जब दिनकर जी ने देश में व्याप्त विषमता, क्षुधा, पीड़ा, शोषण, अन्ध विश्वास देखा तो अन्याय, शोषण और हत्याकाण्ड के विरुद्ध आवाज उठायी। दिनकर जी की क्रान्ति भावना राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और साहित्यिक सभी क्षेत्रों में द्रष्टव्य है। क्रान्तिमत्त चेतना के कतिपय काव्य-स्थल उद्धृत हैं--

" हा भारत की लाल भवानी
जवा कुसुम के हारों वाली।
शिवा, रक्त-रोहित-वसना
ववरी में लाल किनारों वाली ?
कर के लिए त्रिशूल, कमण्डल,
दिव्य-शोभिनी, सुर-सरि-स्नाता।
राजनीति की अचल स्वामिनी।
साम्य-धर्म ध्वज की मत।[1]

उपर्युक्त पद में कवि ने क्रान्ति को देवी माँ भवानी का आह्वान किया है तो निम्न लिखित छन्दों में कविता को भी जागरण की संवाहिका माना है --

---

1. सामधेनी - पृ. 70.

" क्रांति-धात्रि कविते ! जाग उठ, आडम्बर में आग लगादे,
पतन,पाप, पाखण्ड जलें, जग में ऐसी ज्वाला सुलगा दे ।" [1]

कवि का विचार एवं भाव जगत् दोनों परिवर्तन के लिए प्रगति पथ पर बढ़ते हुए जीवन को क्रान्ति बनाना चाहता है --

" गीता से फिर चट्टान तोड़ता हूँ साथी,
झुरमटें काट आगे की राह बनाता हूँ
है जहाँ-जहाँ तम-तोम सिमटकर छिपा हुआ
चुन-चुन कर कुंजों में आग लगाता हूँ ।" [2]

:

3. शोषित और दलित वर्ग के प्रति सहानुभूति :

साहित्य में शोषित और दलित वर्ग के प्रति सहानुभूति प्रकट करना मार्क्सवादी चिन्तन से अनुप्रेरित साहित्यकारों की मुख्य प्रवृत्ति है । दिनकर के साहित्य में इस प्रवृत्ति का विशद अभिव्यक्ति हुई है । दिनकर जी की समाजवाद में अगाध आस्था थी । " कुरुक्षेत्र " के भीष्म शोषक एवं शोषित का प्रश्न उठाते हैं और शोषण-उत्पीड़न से सन्त्रस्त, दमित एवं प्रबुद्ध दलितों के खड्ग उठाकर युद्ध करने की प्रशंसा की दृष्टि से देखते हैं ।" वे स्पष्टतः स्वीकार करते हैं कि आर्थिक साम्य लाये बिना स्थायी शान्ति

---

1. हुंकार - दिनकर - पृ. 32.
2. नीलकुसुम - दिनकर - पृ. 91.

स्थापित नहीं हो सकती । शोषितों के प्रति सहानुभूति व्यक्त करते हुए वे युधिष्ठिर से कहते हैं कि आप उन शोषितों के मन की पीड़ा की कल्पना कीजिये जिनके शोषण पर ही यह कृत्रिम शान्ति जीवित है । आखिर वे जायें तो कहाँ जायें ?

" स्वत्व माँगने से न मिले, संघात पाप हो जायें
बोलो धर्मराज, शोषित वे जियें या कि मिट जायें ? "[1]

-शोषण के विरुद्ध युद्ध और हिंसा की स्वीकृति :-

मार्क्सवाद ने युद्ध के वास्तविक कारणों और वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए प्रतिपादन किया कि युद्ध सामाजिक, आर्थिक, परिस्थितियों द्वारा उत्पन्न एक ऐतिहासिक, अस्थायी परिघटना है ।" इस प्रकार की युद्ध विषयक मार्क्सवादी चिन्तन का दिनकर ने भी समर्थन किया है । दिनकर अनाचार का दमन अत्याचार से ही सम्भव मानते थे, यह उनकी " हुंकार " की कविताओं से प्रमाणित हो गया था -- कुरुक्षेत्र में भीष्म पितामह अनय के विरुद्ध आयोजित युद्ध का समर्थन करते हुए कहते हैं --

" न्यायोचित अधिकार माँगने से न मिले तो लड़के
तेजस्वी छीनते समर को, जीत या कि खुद मरके ।
किसने कहा, पाप है समुचित स्वत्व-प्राप्ति-हित लड़ना ?
उठा न्याय का खड्ग समर में अभय मारना-मरना ।"[2]

1· कुरुक्षेत्र - तृ·स· - पृ· 27
2· कुरुक्षेत्र - च·स· - पृ· 36·

सहज ही कोई किसी से लड़ना नहीं चाहता, किन्तु अन्य की कराल एवं कठोर श्रृंखलाएँ जब असहनीय हो जाती हैं तो मानव युद्ध करने को बाध्य हो जाता है। अतः युद्ध का उत्तरदायित्व युद्ध छेड़ने वाले पक्ष न होकर उस पर है जो उसे उसके न्याय्य अधिकारों से वंचित कर देता है। दिनकर जी ने भीष्म के मुख से कहलवाया है --

" चुराता न्याय जो, रण को बुलाता भी वही है
युधिष्ठिर स्वत्व की अवहेलना पातक नहीं है।

अस्तु, पूंजीपति और श्रमजीवी, शोषक और शोषित के जीवन की सामाजिक विषमताओं के विरुद्ध युद्ध को दिनकर जी पूर्णतः न्याय्य ठहराये हैं।

श्री चन्द्रबली सिंह कविवर दिनकर की युद्ध विषयक धारणा को मार्क्सवादी चिन्तन से प्रभावित बताते हुए लिखते हैं -- " कुरुक्षेत्र में युधिष्ठिर " गांधीवादी दर्शन के प्रतिनिधि हैं और भीष्म उन वामपंथियों के प्रतिनिधि हैं, जो स्वत्व के लिए अहिंसा को कायरता के प्रच्छन्न सुन्दर रूप के अतिरिक्त कुछ नहीं मानते। कवि का दृष्टिकोण भीष्म का दृष्टि कोण है।

निष्कर्ष : निष्कर्ष में यह कह सकते हैं कि मार्क्सवादी विचारधारा ने
दिनकर को पूर्णरूप से प्रभावित नहीं किया है। दिनकर का व्यक्तित्व
यद्यपि ऐसा था जो एक सीमा तक गांधीवादी अहिंसा को
भी अस्वीकृत करता था, इस अस्वीकृत से जो दिनकर के
व्यक्तित्व में रिक्त स्थान बना उसमें भी साम्यवाद घुसा न सका।
वहाँ भी यदि क्रांति, युद्ध, हिंसा, प्रति-हिंसा है तो भीष्म और
परशुराम जैसे क्रान्तिचेतना पूर्ण पुरुषों के माध्यम से प्रतीकबद्ध है।
प्रगतिवाद के साथ ही गांधीवादी या भारतीय विचारधारावाले अभिव्यक्तियों
में जो क्रांति के तत्व थे उनको प्रगतिशीलता के नाम से अभिहित
किया गया। इसी विचारधारा से दिनकर का सम्बन्ध माना गया है,

आतंकवादी आन्दोलन :-

आंतकवाद (Terrorism) का अपना कोई स्वतंत्र दर्शन नहीं, वह अराजकतावाद (Anarchism) का ही एक अंग है और व्यापक रूप से अराजकतावाद उस राजनीतिक दर्शन को कहते हैं जो किसी भी रूप में किसी भी राजनीतिक सत्ता के आधिपत्य को, अनावश्यक और अवांछनीय समझता है । अर्थात् जहाँ समाज में कोई व्यवस्था या श्रृंखला न हो । सुप्रसिध्द विद्वान इ॰वी॰जेनकर ने अपनी पुस्तक " अराजकतावाद " में अराजकवाद की परिभाषा इस प्रकार की है -- " अराजकवाद का अर्थ, आदर्श भाव में पूर्ण स्वतन्त्र व्यक्तिगत अनियंत्रित स्वराज्य है जिसका अभिप्राय किसी भी सरकार की अनावश्यकता है ।"

" Anarachsm means, in its ideal sense the perfect infettered self Government of the individual and, consequently, the absence of any kind of exte rnal governemt.

Anarchism thus, envisages a society in which man through free and co-operative living will discover an opening for the free play of his energies and impulses. " Jhere is to be no compulsion, no law, no government exercis ing force ; there will still be acts of the commmity, but these are to spring fram minersal consent not from any enforced submission of even smallest minority."

अराजकवादी यह कहते हैं कि जितने प्रकार के अत्याचार प्रस्तुत समय में हो रहे हैं वह आधुनिक समय की अव्यवस्थित तथा अनुचित शासन-प्रणाली के ही कारण हो रहे हैं । सब दुखों का मूल कारण आधुनिक शासन व्यवस्था ही है । यदि सरकार न रहेगी तो प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र होगा और उसे

1. Leidler, Socio, Economic movements - p.p- 283-284.

किसी प्रकार का कष्ट न रह जायगा । अतः अराजकतावाद का प्रधान उद्देश्य यही है कि सरकार की दमन शक्ति को नष्ट करे जिससे प्रत्येक व्यक्ति को अपने उत्कर्ष के लिए पूर्ण अवकाश मिले ।

अठारहवी तथा उन्नीसवीं शताब्दी में अनेक अराजकवादी दार्शनिक उत्पन्न हुए जिन्होंने अराजकवादी आन्दोलन को प्रगति प्रदान की । इन दार्शनिकों में विलियम गाडविन का नाम सर्व प्रथम आता है । गाडविनने बड़े ही भीषण रूप और कटु शब्दों में व्यक्तिगत सम्पत्ति पर आक्रमण किया । उसने एक-एक कर अपनी तीक्ष्ण प्रतिभा के द्वारा राज्य सत्ता और वैयक्तिक सम्पत्ति द्वारा प्रोत्साहित सामाजिक और नैतिक विकृतियों का उद्घाटन किया और कहा कि ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, दोनों को एक दूसरे से बल और जीवनी शक्ति मिला करती है ।

अराजकवाद का दूसरा दार्शनिक प्रौधा है । प्रौधा ने गाडविन के अराजकवादी विचारों का समर्थन किया । प्रौधा ने व्यक्तिगत सम्पत्ति का और भी तीव्र स्वर से विरोध किया । उसके विचार से व्यक्तिगत सम्पत्ति एक प्रकार की चोरी है । प्रौधा के आदर्शवादी समाज में मनुष्य कुछ अंश में श्रमिक रहेगा और कुछ अंश में वह समाज के अन्य उपयोगी कार्यों में सहकारी रहेगा । परन्तु वह किसी भी रूप में सरकार का समर्थन नहीं करेगा और न वह पूँजीवाद को ही स्वीकार करेगा । हेनरी थोरो ने भी जिसका बहुत अधिक प्रभाव गांधीजी पर पड़ा है, व्यक्तिगत सम्पत्ति का तिरस्कार करते हुए मानव की अच्छी भावनाओं पर अपना अगाध विश्वास दिखलाया और कहा कि सभी हालतों में नियमों और पाबंदियों से ऊपर मानव की अतः प्रेरणाओं को ही अधिक महत्वदेना चाहिए ।

अराजकवादियों में अन्यतम-बैकुनिन (Michael Bakunin) और क्रोपोटकिन (Kropotkin) ने इस धारा को एक प्रबल सैद्धांतिक रूप देने का प्रयास किया । बैकुनिन ने वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत कर यह बताया कि राज्य सत्ता का काम प्रधानतः कुछेक आदमियों को आततायी और उच्छृंखल तथा शेष को परतंत्र और दास बना कर रखना है । व्यक्तिगत सम्पत्ति और अधिकार के कारण समाज में तरह तरह के दोष ही पैदा होते हैं । लाखों व्यक्ति आर्थिक दृष्टि से गुलाम, सामाजिक दृष्टि से हीन और सांस्कृतिक दृष्टि से निरक्षर रखे जाते हैं । कुछ लोग आर्थिक दृष्टि से भरे-पूरे बन जाते है और अनावश्यक फैशन तथा विविध मनोरंजनों के साधनों को प्राप्त करने में ही अधिक शक्ति नष्ट करने लग जाते हैं । धर्म को ही वह एक सामाजिक दोष ही मानता है -- यह गरीबों को चूसने के लिए अमीरों का एक बहुत सुन्दर आविष्कार है । बैकुनिन अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विकासवादी साधनों के अतिरिक्त, क्रांति को भी वांछनीय समझता है । वह कहता है कि संसार की प्रत्येक घटना, अराजकतावादी लक्ष्य की ओर ही उन्मुख हैं ।

अराजकवादियों का कर्त्तव्य है कि वे उन स्वाभाविक घटना-धाराओं के उत्स को सामाजिक विकास के स्वाभाविक नियमों के प्रति जनता के अज्ञान को हटाकर जिन्दा रखें और उसके पथ की बाधाओं को दूर हटावें । अराजक-वादी की नजर में क्रान्ति का अर्थ है उन सभी वस्तुओं को विनष्ट जिन्हें " जन-सुरक्षा " आदि कल्पित नामों से अभिहित किया जाता है । विनाश में हिंसा की तो आवश्यकता पड़ेगी ही - कुछ खून बहेगा ही । पर, इस विनाश के पश्चात् निर्माण कैसे होगा, उसका कैसा कार्यक्रम होगा - यहाँ आकर बैकुनिन लगभग चुप्पी साध लेता है । वह केवल इतना ही कहता है कि

राज्य सत्ता की विनिष्ट के बाद राजनीतिक कृत्रिम सीमाएँ खत्म हो जायँगी, आजाद व्यक्तियों का आजाद समाज संघटित होगा, उससे पहले प्रांतों का निर्माण होगा, प्रांतों से राष्ट्र और तब यूरोप का तथा अन्ततोगत्वा विश्व का एक संयुक्त राष्ट्र तैयार होगा ।

प्रिंस क्रोपोटकिन ने इस धारा को एक ऐतिहासिक और विकासवादी आधार प्रदान किया । वह मानव में सहकारिता बुध्दि की और उसकी आवश्यकता की उपस्थिति को मानता है । प्रतिद्वन्दता की नहीं । सहकारिता की इसी भावना से मानव, अपने स्वतंत्र गन्तव्य पथ की ओर अग्रसर होता है, पर बीच में राज्यसत्ता, व्यक्तिगत सम्पत्ति, धार्मिक संस्थाएँ आदि उपस्थित हो जाती हैं जिनका प्रधान लक्ष्य जनता के एक बड़े भाग का राजनीतिक और आर्थिक शोषण ही रहता है । वह मानवता है कि सहकारिता भावना के द्वारा ही संघों का निर्माण होगा जिससे कोई भी व्यक्ति अलग नहीं रह सकेगा । प्रत्येक व्यक्ति अपने मत के अनुकूल, प्रत्येक दिन चार-पाँच घंटे काम करेगा और इस प्रकार वह अपनी बीस वर्ष की उम्र से पचास वर्ष की उम्रतक करता रहेगा । इसके बदले संघ घर, खजाना, सड़क, यातायात, शिक्षणालय आदि की व्यवस्था कर देगा जहाँ कि वह अपने शेष समय का अपनी इच्छा के अनुकूल उपभोग करेगा उत्पादित वस्तुएँ, उन्हीं व्यक्तियों में बाँट दी जायँगी जो काम करेंगें या करना चाहेंगे और उनका वितरण काम करनेवाले व्यक्तियों की आवश्यकताओं के आधार पर होगा, काम पर नहीं । उसका कहना है आवश्यकता काम के ऊपर है और सबों को समान रूप से जीने का अधिकार और इसके बाद उनके आराम की व्यवस्था इस आधार पर की जायगी कि उन्होंने उत्पादन में कितना हिस्सा बँटाया है ।

प्रिंस क्रोपोटकिन का कहना है घटना-धारा इसी लक्ष्य की ओर स्वाभाविक गति से बढ़ रही है। अराजकतावादी केवल विकास की दिशाओं की ओर संकेत भर कर देता है। पर वह, यह नहीं मानता कि ऐसे लक्ष्य की प्राप्ति शांतिपूर्ण उपायों से भी हो सकती है। विकास, क्रांति में परिणत होगा ही और क्रांति का प्राथमिक रूप तो अवश्य ही विनाशोन्मुख होगा - बाद में वह निर्माणात्मक रूप ग्रहण करेगी। पर यह निर्माण भी स्वाभाविक साधनों और प्राकृतिक नियमों से होगा। समाज, उस लक्ष्य की ओर आप से आप बढ़ेगा - देरी है केवल वर्तमान कृत्रिम संस्थाओं और नियमों के विनाश की।

इसी प्रकार हम गंभीरता से सोचने पर पता चलेगा कि जहाँ अराजकतावाद, किसी राजनीतिक सत्ता के उन्मूलन के लिए एक सिद्धांत है - वहीं आतंकवाद, किसी राजनीतिक व्यक्तित्व के विनाश का एक प्रतिशोधात्मक प्रयत्न है। अराजकतावादी, आतंकवादी भी हो - ऐसी कोई बात नहीं, पर सभी आतंकवादी, अराजकतावादी हुआ करते हैं।

भारतीय अराजकतावादी धारा में भी ये विशिष्ट गुण पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि भारतीय अराजकतावादियों का लक्ष्य, बैकुनिन और क्रोपोटकिन द्वारा निर्धारित जैसा-तैसा कार्यक्रम बाद में था, ब्रिटिश सत्ता को येन केन प्रकारेण समाप्त कर देना पहले। क्योंकि बैकुनिन के सिद्धांत, प्रधानतः आजाद देशों को ध्यान में रखकर निर्धारित किये गये थे, पर भारत परतंत्रता के विविध बन्धनों से जकड़ा हुआ था। इसलिए इनके कार्य प्रधान रूप से शासनाधिकारियों को समाप्त कर देने में ही केन्द्रित हुए। समाज की ओर इन्होंने देखा तक नहीं, देखने का अवकाश तक नहीं था। कार्यक्रम का अभाव कहिये, या भारतीय जनता की निष्क्रियता, ये सामाजिक क्षेत्र में एकदम सफल नहीं हो पाये।

परिणाम यह हुआ कि इनका अराजकतावाद, आंतकवाद का पर्याय हो गया -- ये (Anarchy) अनार्की नहीं आतंक के (Terror) के उपासक बने ।

अराजकतावाद और दिनकर

दिनकर इतिहास का अध्ययन गम्भीर चिन्तन के साथ किया । उन्होंने इतिहास के अध्ययन के द्वारा विश्व मानव-समाज की गतिविधि का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया । फ्रांस की राज्य क्रांति, अमेरिका की स्वतंत्रता, जार के अत्याचार, मार्क्स के विचार, लेनिन के अनोखे कार्य और सुनयात सेन की युक्तियां - सबका अवलोकन किया और फिर देखा अपने गाँवों की ओर । सूचीभेद्य अंधकार । मिट्टी के उन सपूतों को मिट्टी का एक बूंद तेल भी नहीं मिलता । और फिर देखा जगमग करती हुई बिजलियां, अपने साथ ही पढ़ते हुए जमीन्दारों के बेटों के गुलछर्रे - किसानों का खून, जो इन अत्याचारियों के चहरों पर फैल कर प्रतिशोध माँग रहा था । और अन्त में देखा - लोहे के नाल जड़े चर्रमर्र करते हुए अंग्रेजों के जूते, जो बोलने वालों के मुख पर कसकर रख दिये जाते थे । जो आह तक भी करनेवालों पर तड़ातड़ बरसने लगते थे । दिनकर ने अपनी बड़ी-बड़ी लाल-लाल आँखों से यह सब कुछ देखा । आँखें बरस पड़ी । बन्द आँखों से देखा हिमालय सामने खड़ा है -- "साकार दिव्य गौरव विराट *" -- उसका यौवन कसमसा उठा । फिर देखा गाँधी को बेहद निराशा हुई । वह कड़क उठा --

"रे रोक युधीष्टर को न यहाँ, जाने दे उनको स्वर्गधीर
पर फिर हमें गाण्डीव गदा, लौटा दे अर्जुन भीमवीर ।।[1]

---

1. रेणुका - दिनकर - पृ.

कहने का अर्थ यह है कि इन परिस्थितियों में दिनकर के हृदय के किसी कोमल तन्तु और सुकुमार भावना ने उसे कवि बना दिया नहीं तो वह राजनीतिक क्षेत्र में कूद कर एक दुर्द्धर्ष आंतकवादी अवश्य बन जाते।

पौरूष के प्रबल वेग और कोमल तंतु की सुकुमार झंकार के बीच " रेणुका " की कविताएँ लिखी गयी। वही केवल उद्दाम पौरूष दीखता है, कहीं केवल सुकुमार झंकार मात्र ही। " अंगारा " जिस पर इन्द्रधनु खेल रहे, यह रेणुका के दिनकर का परिचय है। " हुंकार " में इन्द्रधनु विलीन हो गये। दिनकर की आत्मा का अंगारा चमक उठा। उसके बाद दिनकर के मनोविज्ञान में भारी परिवर्तन उपस्थित होता है। जिसकी आशा किसी को भी नहीं थी।

दिनकर के कुरूक्षेत्र अराजकतावादी के सभी लक्षण विद्यमान है। कुरूक्षेत्र का सप्तमसर्ग अराजकतावादी दर्शन का प्रवचन-मात्र है जो श्रृंग चढ़ जीवन के आर-पार हेरो-से, वृद्ध पितामह भीष्म के मुख से कहलाया गया है। और इसके अतिरिक्त उसमें जो भी शेष वाक्य है -- वे आतंकवादियों के लक्षण है क्रूर-धर्म, ज्वलित प्रतिशोध पौरूष की जागृति आदि के उपदेश।

दिनकर की राष्ट्रीयता के तीन रूप है। प्रथम तो अतीत का गौरव गान, द्वितीय वर्तमान की कारूणिक स्थिति। और तृतीय उसके निदान के लिए आतंकवाद का सहारा। दिनकर जन्मजात आतंकवादी, हिंसा-वादी और विध्वंसवादी है। इस तत्व की प्रधानता रहने के कारण वह सदैव अपने वर्तमान से असन्तुष्ट रहेंगे, पर जैसे की मैंने पहले कहा है, उनके हृदय में किसी सुकुमार तन्तु के मजबूत रहने के कारण, वह कोई कड़ा और

शिक्षित कदम नहीं उठा सकते । वर्तमान स्थिति से तंग आकर अन्याय और अनाचार से पीड़ित होकर वह वर्तमान समाज को ही तोड़-फोड देने के लिए अपनी मुट्ठियाँ कस लेंगे । पर वह सुकुमार तन्तु बार-बार उनकी मुट्ठियाँ खोल दिया करेगा ।

नहीं क्या स्वप्न है, प्रतिशोध का हम मानवों को ?
जरा तू बोल तो, सारी धरा हम फूँक देंगे ।
पड़ा जो पंथ में गिरि । कर उसे दो टूक देंगे
पर लाचार हूँ मैं ।

इसीलिए क्रांतिवादी होने पर भी दिनकर को विकासवादी होना पडता है ।

दिनकर अत्यधिक उग्र विचारों के राष्ट्रीय कवि है । बचपन से ही वह शोषित वर्गों का शोषण देखते आ रहे हैं । उनकी पीडा उनकी वेदना उनकी असमर्थता, विवशता आदि को उन्होंने नजदीक से निरीक्षण किया है । उन्होंने बालकों को भूख से अकुलाते देखा है और अमीरों के यहाँ कुत्ते तक को दूध पीते देखा है । इस वैषम्य को उन्हें गहरी अनुभूति है, जो बरबस उनकी कविता में फूट पडती है ।

विवश देखती माँ अंचल से नहीं जान तडप उडजाती
अपना रक्त पिला देती यदि फटती आज वज्र की छाती
कब्र कब्र में अबुध बालकों की भूखी हड्डी रोती है
दूध दूध की कदम कदम पर सारी रात सदा होती है ।[1]

x x x x x

---

1. हुंकार - दिनकर - पृ. 22-23.

हटो व्योम के मेघ से पथ से स्वर्ग लूटने हम आते हैं
दूध दूध ओ वत्स ! तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं ।[1]

उनकी राष्ट्रीय भावना जंजीरों में बंधे उस पौरूष-युक्त विचारवान् बन्दी की भावना है जो उग्र देशभक्ति के अपराध में बन्दीगृह में डाल दिया गया हो । दिनकर की " राष्ट्रीय कविताएँ फौलादी मुट्ठियों में कसी सीकचों को मरोड़ है । ऐसी ही अवस्थाओं में वह अपनी कविताओं का सृजन करता है । वह उस बन्दीगृह की काली दीवारों पर क्रान्ति का लोहित चित्र खींचते हैं निर्मम दीवारों पर विपथगा की प्रत्येक रेखा स्पष्ट होती रहती है - और वह क्रोधित नयनों से उसे देखते भर रह जाते हैं --

हृदय की वेदना बोली, लहू बन लोचनों में
उठाने मृत्यु का घूँघट हमारा प्यार बोला --
नये युग की भवानी आ गयी बेला प्रलय की
दिगम्बरि ! बोल अम्बर में किरण का तार बोला ।"

दिनकर में यह राष्ट्रीय भावना इतनी उग्र है कि प्रकृति के रंगीन चित्रों के निरीक्षण में भी वह उसे भूल नहीं सकते । ऋतुराज आता है - मादकता लिये हुए, एक अलमस्ती लिये हुए पर वह भी देश-भक्ति के इस अलमस्त को गुमराह बनाने में अक्षम है। वह इस सौरभ के सोने परदे को चीरकर " रोती सतलज " और रूधिर के दिव्य-पनारे तक पहुँच जाते हैं। एक एक कर विगत वैभव के दृश्य देश-भक्ति के उज्ज्वल उदाहरण उनके सम्मुख आने लगते हैं --

---

1· हुंकार - दिनकर - पृ· 22 - 23·

देखा शून्य कुँवर का गढ़ है, झाँसी की वह शान नहीं है
दुर्गादास, प्रताप बली का, प्यारा राजस्थान नहीं है ।

दिनकर के काव्य में हम पाते हैं कि उन्होंने अराजकतावाद का श्रेय लेकर अंग्रेजी राज्य को जड़ से उखाड़ना चाहते हैं । सामाजार्थिक, धार्मिक विषमता को दूर करने तथा समाज के शोषित-पीड़ित लोगों को संघटित करके जन आन्दोलन चाहते हैं । उपरोक्त बातों का उल्लेख उनके " कुरुक्षेत्र " काव्य में हुआ है । " हुँकार " की कविताओं राष्ट्रीय भावनाओं को शुद्ध आतंकवादी भूमिका पर कवि ने चित्रित किया है ।

2·4· उपनिवेशवाद :-

उपनिवेशवाद (*colonialism*) साम्राज्यवाद (*Imperialism*) का ही एक महत्वपूर्ण अंग है । साम्राज्यवाद (*Imperialism*) के अन्तर्गत उपनिवेशों का अधिकाधिक शोषण किया जाता है । साम्राज्यवादी देशों ने अपने देश के क्षेत्र विस्तार, आर्थिक समस्याओं के समाधानार्थ, कच्चे माल की प्राप्ति, घरेलू पूँजी के उपयोग एवं व्यापार वृद्धि के हेतु उपनिवेशों की स्थापना करते हैं । वे उन उपनिवेशों के शोषण पर फूलते-फलते हैं । उपनिवेशों में स्वायत्त शासन, सुरक्षा और स्थानीय शासन के अनेक रूप और अनेक प्रकार की खोज निकालकर जनता को छोटे-छोटे मामले में कुछ अधिकार दे दिये जाते हैं । पर इस बात का ध्यान रखा जाता है कि वास्तविक शक्ति साम्राज्यवादी देश के हाथ में रहे । विदेश नीति, अर्थतन्त्र आदि पर साम्राज्यवादी अपना पूर्ण नियन्त्रण रखते हैं । उपनिवेशों को सामान्य अवस्था में मण्डियों तथा युद्ध के समय सैनिक भर्ती के लिए प्रयुक्त किया जाता है अर्थात् वहाँ की प्रजा प्रभुसत्ता नहीं होती ।

औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप यूरोपीय देशों में साम्राज्य विस्तार की भावना, कच्चे माल की प्राप्ति एवं तैयार माल के लिए बाजारों की तलाश के परिणाम स्वरूप बढ़ने लगी। अपने देश की बढ़ती हुई जनसंख्या को संसार के जनसंख्याहीन प्रदेशों में बसाने का बहाना करके भी उपनिवेशों की स्थापना की गयी। सन् 1497 ईस्वी में पुर्तगाल निवासी वास्कोडिगामा ने भारत वर्ष का पता लगाने के लिये अपने देश में प्रस्थान किया और वह इस कार्य में सफल हुआ। पुर्तगाल निवासियों ने अफ्रीका, दक्षिणी एशिया और ब्राजील आदि देशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न किया। इसी बीच में स्पेन ने मेक्सिको, पेरू, नेदरलैंड्स आदि देशों को अपने साम्राज्य में सम्मिलित किया। परन्तु स्पेन साम्राज्य भी बहुत समय तक स्थिर न रह सका क्योंकि स्पेन की शोषणनीति, व्यापारिक एकाधिकार तथा धार्मिक अत्याचारों के कारण अधीन देशों में विद्रोह फैल गया और यह साम्राज्य भी छिन्न-भिन्न हो गया।

17 वीं शताब्दी के आरम्भ में हालैण्डवालों ने अफ्रीका, भारत वर्ष तथा दक्षिणी समुद्र के द्वीप समूहों में अपना साम्राज्य स्थापित किया। लगभग इसी समय में अंग्रेजों तथा फ्रांसीसियों ने भारत वर्ष, कनाडा और उत्तरी अमेरिका के मध्य भाग में अपना साम्राज्य स्थापित किया। सन् 1756 से 1763 तक यूरोप में सप्तवर्षीय युद्ध आरम्भ हुआ। इस युद्ध में संसार में जहाँ जहाँ फ्रांसीसी थे वहाँ वहाँ वे आपस में लड़ने लगे। युद्ध का परिणाम यह हुआ कि फ्रांसीसी साम्राज्य का अन्त हुआ और ब्रिटिश साम्राज्य स्थायी रूप से स्थापित हो गया। परन्तु ब्रिटिश शासकों के दुर्व्यवहार के कारण अमेरिका ब्रिटिश साम्राज्य से पृथक् हो गया। सन् 1804 में यूरोप में नेपोलियन ने फ्रेंच साम्राज्य की स्थापना की। परन्तु यह साम्राज्य स्थायी न रह सका। नेपोलियन के समय इटली, नेदर लैण्ड्स, स्पेन, स्विट्जरलैंड

आदि सब देश फ्रेंच साम्राज्य में सम्मिलित थे । फ्रेंच साम्राज्य अधिक काल तक स्थिर न रहा सका । ब्रिटिश नौसेना की शक्ति इस समय संसार में प्रबल थी, इसी शक्ति ने फ्रेंच साम्राज्य का अन्त किया था । उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक ब्रिटिश साम्राज्य की उन्नति होना आरम्भ हुआ और लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक ब्रिटिश साम्राज्य संसार के इतिहास में सबसे प्रसिद्ध साम्राज्य रहा है ।

सन् 1947 के पूर्व भारत भी ब्रिटेन का एक उपनिवेश था । यहाँ भी साम्राज्यवादी शोषण और दमन-चक्र तीव्रता से गतिशील था । इस सन्दर्भ में पार्कर मून ने लिखा है कि "ब्रिटिश लोगों का भारत वर्ष में पदार्पण करने तथा वहाँ स्थापित होने का यह कारण है कि वे भारत वर्ष को लाभ पहुँचाना नहीं चाहते थे बल्कि ब्रिटेन को ।"[1] महात्मा गाँधी ने एकबार अपने भाषण में कहा था कि विधान द्वारा स्थापित ब्रिटिश शासन जन-साधारण का शोषण कर रहा है और कोई यु याभास या हाथ की सफाई (जादूगरी) ग्रामों में दिखाई देने वाले अस्थिपंजरों के कारण के विषय में आँखों में धूल नहीं झोंक सकती है ।"[2] निर्धनता के अतिरिक्त भारत वर्ष में उस समय केवल सात-प्रतिशत जनसंख्या शिक्षित थी । यही दशा अन्य लोक हित सम्बन्धी बातों की थी । भारत वर्ष की भू-कर आय का बहुत बड़ा भाग सेना, पुलिस तथा कारावासों पर व्यय किया जाता था । व्यापार तथा उद्योग धन्धे सम्बन्धी ऐसे विधान बनाये जाते थे जिनसे भारत का हित न होकर इंगलैंड का हित हो । यातायात कर लगाने में भी इसी बात का ध्यान रखा जाता था कि केवल ब्रिटिश लोगों की ही हितपूर्ति हो । ब्रिटिश सामान्य काल में सम्पूर्ण नीति भारतवर्ष में ब्रिटिशों की हित-पूर्ति के लिये ही थी ।

---

1. पाश्चात्य राज्य दर्शन - डा॰बी॰एम॰ शर्मा - पृ॰ 157
2. - वही - पृ॰ 178॰

फ्रीमैन ने ठीक कहा है जब तक अधीन देश निर्बल होता है और प्रभुत्वशील देश का विरोध पूर्णरूप से नहीं कर सकता तब तक प्रभुत्वशील देश उस पर अत्याचार करता है और उसे कुचलने का प्रयत्न करता है, अपनी शक्ति को पूर्णरूप से दिखाता है और उसे अधिकाधिक शासन की श्रृंखलाओं में जकड़ने का प्रयत्न करता है। अधीन देश के निवासियों में भिन्न-भिन्न प्रकार से फूट डालने का प्रयत्न करता है और उनकी किसी प्रकार की उन्नति नहीं होने देता।[1] इस प्रकार जब भारतवर्ष ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत था, उस समय इस देश का ब्रिटिश लोगों ने बहुत शोषण किया है।

प्रथम महायुद्ध से पूर्व साम्राज्यवाद का बोलबाला था। संसार में वह दृढ़ता से स्थापित था। कोई नहीं जानता था कि कभी ऐसी भी लहर आ सकती है कि जो साम्राज्यवाद की जड़ को हिला देगी। एशिया के सभी लघु एवं महान देश पश्चिमी उपनिवेशवाद का जुआ कन्धे से उतार फेंकने के लिए आन्दोलन कर रहे थे। रूस ही सर्वप्रथम देश था जिसने साम्राज्यवाद को अस्वीकार कर अपने पराधीन राज्यों को मुक्त कराया। स्वयं साम्राज्यवादी शिकंजे से मुक्त होकर रूस ने अन्य पराधीन राष्ट्रों के स्वतन्त्र्य-संग्राम के प्रति सहानुभूति प्रकट की, अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत पराधीन एवं हाल में स्वतन्त्र हुए राष्ट्रों की हर सम्भव सहायता की और साम्राज्य विरोधी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का आयोजन किया। रूस से प्रेरणा, प्रोत्साहन और सहायता लेकर विश्व के अन्य पराधीन राष्ट्र भी साम्राज्यवादी जुए को उतार फेंकने के लिए प्रयत्न शील है। " सन् 1919 के बाद एशिया और आफ्रीका महाद्वीपों में साम्राज्यवाद की जो पराजय शुरू हुई वह सन् 1945 (द्वितीय महायुद्ध) के बाद अन्तिम पराजय का रूप लेने

---

1. पाश्चात्य राज्य दर्शन - डा॰बी॰एम॰ शर्मा - पृ॰ 159॰

लगो तथा साम्राज्यवाद का समूल उन्मूलन होने लगा ।"[1] द्वितोय महायुद्ध के पश्चात् संसार में राजनोतिज्ञों के विचारों में बड़ा परिवर्तन हो गया है । शोषक तथा शोषितों के भेदभाव बढ़ता चला जा रहा है । संसार साम्यवाद को ओर बड़ो शोघ्रता से चला । यूरोप तथा एशिया का बहुत बड़ा भाग साम्यवाद से प्रभावित हो चुका है । वास्तव में आधुनिक काल एक नवोन प्रकार के साम्राज्यवाद के आगमन को ओर ध्यान आकर्षित कर रहा है । यह साम्यवादो साम्राज्यवाद के नाम से सम्बोधित किया जा सकता है ।

2·4·1· दिनकर के काव्य में उपनिवेशवाद का विरोध :-

दिनकर के कवि-जोवन का आरम्भ तब हुआ, जब कि भारत परतन्त्र था । ब्रिटिश साम्राज्यवाद के चुंगल में फंसा हुआ था । बोसवो शताब्दो के पूर्वार्द्ध तक भारत को जनता में राष्ट्रोय भावना पूर्णरूप से जागृत हुई । सन् 1917 को रूसो क्रांति के प्रभाव से ब्रिटिश के उपनिवेशवादो राज्य अपने आप उस बंधन से मुक्त होने के लिए संघर्ष कर रहे थे । भारत भी साम्राज्यवादो शिकंजे से मुक्त होने के लिए विद्रोह कर रहे थे । किसान मजदूर आन्दोलन, असयोग आन्दोलन, सैमन कमोशन बहिष्कार, भारत छोड़ो आन्दोलन आदि के फलस्वरूप अंग्रेजों ने भारत को अपने चुंगल से मुक्त कर दिया ।

दिनकर का पूरा बचपन राष्ट्रोय आन्दोलन के वातावरण में गुजरा था । बाद को भी यह संस्कार बढ़ता हो गया । गाँव से मैट्रिक पास करके जब वे कॉलेज पढ़ने के लिए पटना आये वहाँ उन्होंने सन् 1930 ई· के नमक सत्याग्रह में भाग लिया । इन सभी घटनाओं ने दिनकर को कविता को राष्ट्रोय धारा को ओर ढकेल दिया ।

1· डॉ· मथुरालाल शर्मा - अन्तर्राष्ट्रोय सम्बन्ध - पृ· 200·

" रेणुका " कवि की सर्वप्रथम कृति है जिसमें दिनकर की राष्ट्रीय भावनाओं को उनके उपनिवेश विरोध के साथ पूरी विविधता में देखा जा सकता है । " रेणुका " की ताण्डव कविता में कवि ने साम्राज्यवादी सभ्यता और ब्रिटिश राज्य के प्रति अपनी प्रखर ध्वंसात्मक दृष्टि का परिचय देकर क्रान्ति के स्वरों का आवाहन किया है । कवि के शब्दों में --

प्रभु तव पावन नील गगन-तल
विदलित अमित निरही-निबल-दल
मिटे, राष्ट्र, उजड़े दरिद्रजन
आह ? सभ्यता आज कर रही
असहायों का शोणित - शोषण
पूछो, साक्ष्य भरेंगे निश्चय, नभ के ग्रह नक्षत्र निकर
नाचो, हे नाचो नटवर ।[1]

दिनकर उपनिवेशवाद के विरुद्ध क्रान्ति करने के लिए स्वयं क्रान्ति को पुकारते हैं । उनका कथन है कि " भारतवासी अनेक युगों से परतन्त्र हैं और युगों से उनके रक्त का शोषण चल रहा है । भारतवासी अन्याय तथा अपमान को ढोते हुए चल रहे हैं । वैसे साम्राज्यवादियों के विरुद्ध क्रान्ति करके प्रतिशोध लेने के लिए वे जनता का आवाहन करते हैं ।[2] कवि कहते हैं --

युगों से हम अनय का भार ढोते आ रहे हैं
न बोलो तू मगर, हम रोज मिटते जा रहे हैं
पिलाने को कहा से रक्त लाये दानवों को ?
नहीं क्या स्वत्व है प्रतिशोध का हम मानवों को ।[3]

---

1. हुंकार - हिमालय कविता - दिनकर - पृ. 57.
2. हुंकार - दिगम्बरी - दिनकर - पृ. 23.
3. - वही -

कवि के अनुसार " देश को परतन्त्र अत्यन्त भयंकर है । वह देश के रक्त को पी जाती है तथा मानवता को दबाकर खा जाती है ।"

" यह है परतन्त्रता देश की पिपासु देश का पीने वाली,
मानवता कहता तू जिसको उसे चबाकर खानेवाली ।"[1]

उपनिवेशवाद का विरोध करते हुए दिनकर कहता है कि भारतवासी को किसी का दास नहीं बनाना चाहिए ।

नहीं चाहते किसी देश को हम निज दास बनाना
पर, स्वदेश का एक मनुज भी दास न कहीं रहेगा
हम चाहते सन्धि, पर विग्रह कोई खड्ग करे तो
उत्तर देगा उसे मगध का महा खड्ग बलशाली ।[2]

कुरुक्षेत्र में साम्राज्यवाद के विरुद्ध क्रान्ति का स्वर बहुत स्पष्ट है । भीष्म कहते हैं --

धर्मराज ! यह भूमि किसी की क्रीत है दासी
है जन्मना समान परस्पर इसके सभी निवासी ।[3]

पराधीनता के प्रति प्रबल विद्रोह दिनकर के हुंकार में मुखरित है । उनके हुंकार में पौरुष अपनी भीषणता और भयंकरता के साथ गरजा है । विदेशी शासन के अन्तर्गत भारत के सांस्कृतिक उन्नयन के ह्रास के कारण एक प्रकार की

1· सामधेनी - दिनकर - पृ· 63·
2· इतिहास के आँसू - दिनकर - पृ· 18·
3· कुरुक्षेत्र - दिनकर - पृ· 51·

जीवन में विषमता की स्थिति उत्पन्न हो गई थी । कवि इस विषमता के प्रति सहानुभूति को " हुंकार " में सजीव चित्रित करना चाहता है । अपनी भावनाओं और संवेदनाओं के माध्यम से कवि ने इस विषमता का यथार्थ भूमिका पर चित्रण किया है जो कि " दिल्ली ", " हिमालय ", " बुद्धदेव " और " पाटलीपुत्र की गंगा " तथा अन्य कविताओं में देखा जा सकता है । विदेशी शासन से मुक्ति पाने के लिए पुकार कर कहता है :

ले अंगड़ाई उठ, हिले धरा
कर निज विराट स्वर में निनाद
तू शैल-राट हुंकार भरे,
फट जाये कुहा, भागे प्रमाद । "[1]

उत्साह वर्धक भावनाओं से युग परिवर्तन की प्रबल आकांक्षा कवि ने इस पंक्तियों में की है --

उठ भूषण की भाव रंगिणी, लेनिन ने दिल की चिनगारी
युग मर्दित यौवन की ज्वाला, जग जागरी क्रान्ति कुमारी [2]

कवि अपने " इतिहास के आँसू " में एक पत्र के द्वारा यह व्यक्त करते हैं कि " हम, भारतवासी किसी अन्य देश को अपना गुलाम बनाना नहीं चाहते । परन्तु स्वदेश के एक व्यक्ति को भी हम अन्य देशों के दास नहीं बनने देंगे । यदि कोई देश हम से प्रेम करता है तो हम भी प्रेम का व्यवहार करेंगे, यदि कोई खड्ग के द्वारा हमें जीतना चाहेगा तो उसके प्रत्युत्तर के रूप में हम अपनी शक्तिशाली खड्ग का प्रयोग करेंगे । इस प्रकार कविवर दिनकर अपनी कविता के द्वारा भारत की परतन्त्र जनता को साम्राज्यवाद के विरोध में क्रान्ति करने को उद्बोधित करते हैं ।

---

1. हुंकार - हिमालय कविता - दिनकर - पृ. 57.

2·5· गाँधीवाद :-

महात्मा गाँधी की चिन्तन धारा गाँधीवाद के नाम से प्रसिद्ध है । गाँधीवादी विचारधारा से अभिप्राय उस जीवन-पद्धति एवं सिद्धांतों से है, जिसका प्रचार-प्रसार गाँधीजी के जीवन काल में हुआ एवं बाद में भी जिन विचारों, सिद्धांतों ने कवियों को अनुप्रमाणित किया और साहित्य क्षेत्र में कई मूल्यवान रचनाएँ दीं । गाँधीवादी विचारधारा प्रमुख रूप से सत्य, अहिंसा, करुणा, क्षमा आदि मानववादी तथा आध्यात्मिक जीवन मूल्यों से संपृक्त है । उनकी विचारधारा ने सांस्कृतिक,सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना को बड़े गहरे में प्रभावित किया है । उनकी विचारधारा भारत के लिए नहीं विश्व के लिए मानवता का संदेश देनेवाली है ।

गाँधीवाद की व्याख्या करते हुए पट्टाभि सीतारमैया ने लिखा है कि -- "गाँधीवाद वस्तुत भारत की उस आचार परक आध्यात्मिक जीवनदृष्टि तथा सांस्कृतिक परम्परा का आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्धित एवं संशोधित संस्करण है, जो शताब्दियों से सत्य । अहिन्सा, सेवा, प्रेम, त्याग, सहिष्णुता, अस्तेय अपरिग्रह, आत्म संयम आदि नैतिक मूल्यों को भौतिकजीवन मानो की अपेक्षा अधिक काम्य और वरेण्य मानती आई है ।"

आचार्य कृपलानी का मत है कि "गाँधीवाद जैसे कोई चीज अभी पैदा नहीं हुई । सिर्फ गाँधीजी का बताया हुआ मार्ग और दृष्टिकोण है, जो न सख्त है । न नियमित और न अन्तिम । वह ब्यौरेवार बाते अन्तिम रूप से अथवा हर समय के लिए तय करने की कोशिश नहीं करता । सिर्फ एक दिशा सूचित करता है ।"

गाँधीवादी विचारधारा के तीन प्रमुख अंग है । इसका प्रथम अंग गाँधीवाद के तत्व है जिनमें " सत्य " और " हिंसा " की प्रतिष्ठा है । इसका दूसरा अंग कतिपय सिद्दान्त हैं जिनके अन्तर्गत वर्ग सहयोग, विकेन्द्रीकरण, ट्रस्टीशिप, हृदय परिवर्तन और सत्याग्रह को मान्यता है । इसका तीसरा अंग रचनात्मक सूत्र है जिनमें साम्प्रदायिक एकता, अस्पृश्यता निवारण, मद्यनिषेध, खादी प्रचार, सफाई की शिक्षा, नारी की उन्नति, मातृभाषा प्रेम, आर्थिक समानता, कृषक संगठन, श्रमिक संगठन, विद्यार्थी संगठन तथा सेवाभावना आदि हैं । इसी प्रकार उनका दर्शन मानव जीवन के सभी पहलुओं पर प्रकाश डालता है । भारतीय संस्कृति पर उनकी विचारधारा का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है ।

2·5·1· आध्यात्मिक विचार धारा :-

§क§ सत्य और अहिन्सा :-

गाँधीजी की विचारधारा का मूल मंत्र है सत्य और अहिंसा । उनका कहना था कि सत्य रूपी साध्य की खोज का नैतिक होना अनिवार्य है और यह खोज हम अहिंसा रूपी साधन द्वारा ही कर सकते हैं । सत्य सर्वोच्च कानून और अहिंसा सर्वोच्च कर्त्तव्य है । सत्य की तरह अहिंसा की शक्ति असीम है ।

गाँधीजी के शब्दों में सत्य शब्द सत् से बना है । सत् का अर्थ है होना या अस्ति । सत्य का अर्थ हुआ होने का भाव । वे सत्य के अतिरिक्त और किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं मानते थे । सत्य अखंड और एक रस है । सम्पूर्ण चर और अचर में इसी का सत्ता व्याप्त है । सामान्यत:

सत्य का अर्थ केवल सच बोलना ही समझा जाता है। सत्य का दूसरा नाम परमेश्वर है। इसलिए परमेश्वर का सच्चा नाम (सत्) अर्थात् सत्य है। गाँधीजी परमलक्ष्य की प्राप्ति के लिए सत्य का प्रथम स्थान देते थे। वे प्रत्येक स्थिति में सत्य के ग्रहण और सत्य के आचरण के पक्ष में थे। वे अपने प्राण देकर भी सत्य की रक्षा करना श्रेयस्कर समझते थे।

सत्य का दूसरा पहलू अहिंसा है। अहिंसा सत्य का भाव पक्ष है। अहिंसा का अर्थ केवल हिंसा का अर्थात् द्वेष का अभाव मात्र नहीं है। अहिंसा का अर्थ प्रेम है। अहिंसा की प्राप्ति के लिए आत्मशुद्धि आवश्यक है। स्वार्थ और मोह आदि से सर्वथा मुक्त प्रेम को ही अहिंसा कहते हैं।

गाँधीजी अहिंसात्मक एवं शांतिपूर्ण उपायों से समाज को बदलना चाहते थे। उन्होंने अपने विचारों को इस प्रकार प्रकट किया था -- "मैं जमीन्दारों और अन्य पूंजीपतियों को अहिंसक उपाय से बदलने की आशा करता हूँ और मेरे लिए वर्ग-संघर्ष की अपरिहार्यता जैसी कोई चीज नहीं है। अहिंसा का निवार्य अंग है कि कम-से-कम प्रतिरोध की रेखा के साथ चला जाये।"[1] वस्तुतः गाँधीजी अहिंसा के विचार-प्रकाशन से भारतीयों को आधुनिक पशुवाद से बाहर निकालकर उन्हें धर्म के, मानवतावाद के रास्ते पर ले जाना चाहते थे तथा देश में रामराज्य की स्थापना करना चाहते थे।

---

1. हरिजन - 10 दिसम्बर - 1938.

2.5.2 धार्मिक विचारधारा :-

गाँधीजी के सभी धार्मिक विचार उनके निजी अनुभवों से निकले थे, इसलिए उनकी भाषा में वही वेधकता और सच्चाई मिलती है जो उपनिषदों में दिखाई देती है, जो बुद्ध और रामकृष्ण परमहंस के उद्गारों में भरी हुई है ।[1] उनका धार्मिक दृष्टिकोण व्यापक मानवीय मूल्यों से संपृक्त है । उनके अनुसार कोमलता, करुणा, त्याग, विश्व मैत्री, विश्व-बन्धुत्व और विश्व शान्ति में धर्म के तत्व निहित हैं । इसलिए शिक्षा, संस्कृति, कला, विज्ञान, व्यापार और उद्योग तथा सामाजिक आन्दोलन गांधीजी सबका अध्यात्मीकरण चाहते थे, उन सब में उनका आध्यात्मिक दृष्टिकोण स्पष्ट था । विवेकानन्द और अरविन्द के समान ही, वे भी मानते थे कि केवल आधिभौतिक विजयों और उपलब्धियों पर अवस्थित सभ्यता न तो शान्तिदायिनी हो सकती है, न उसमें स्थायित्व ही आ सकता है । शान्ति और स्थायित्व उसमें तब आयेगा जब धर्म से वह पूर्ण रूपेण व्याप्त हो जाए । जीवन धर्म से वियुक्त होने पर नीचे गिर जाता है और जब धर्म से उसका मेल होता है वह ऊपर उठने लगता है ।

गाँधीजी धार्मिक संकीर्णता, अंधविश्वासों और बाह्याडम्बरों का विरोध करते हैं । उन्होंने धार्मिक एवं साम्प्रदायिक असहिष्णुता की भावना को दूर करके देश में सहिष्णुता, एकता एवं समता का प्रचार किया । उन्होंने परस्पर विरोध करने वाले हिन्दू, मुस्लिम एवं इसाइयों में बढ़ती हुई वैमनस्य की भावना को दूर करके भारत में एकता स्थापित करने एवं सुसंगठित होकर स्वातंन्त्रय युद्ध करने के लिए पारस्परिक मेल-जोल पर अधिक बल दिया और स्वयं हिन्दू धर्म के कट्टर अनुयायी होकर भी ईसा और मुहम्मद के सिद्धान्तों का स्वागत किया ।

---

1. संस्कृति के चार अध्याय - दिनकर - पृ.

2.5.3 सामाजिक विचारधारा :-

गाँधीवादी विचारधारा का अंत जबकि आध्यात्मिक है । उसका कार्यक्षेत्र समाज है । वह भारतीय समाज की अनेकविध बुराइयों को दूर करके समाज में अमूल परिवर्तन लाना चाहते थे । उनसे पूर्व समाज में ब्रह्म समाज एवं आर्य समाज ने सुधार अभियान चला रखे थे, किन्तु उनके परिणाम एक सीमा तक ही फलदायी हो सके । गाँधीजी के सामने सामाजिक आदर्श के रूप में " रामराज्य " था, जिसे वह घटित देखना चाहते थे । यही उनके सामाजिक आदर्श की चरम सीमा भी थी । इसी दृष्टि से सामाजिक सुधार के लिए उन्होंने कुछ रचनात्मक कार्यों को महत्व दिया, जिनके अंतर्गत सांप्रदायिक एकता, अस्पृश्यता, प्रौढ़शिक्षा, खादी, नई बुनियादी तालीम स्त्रियों की उन्नति, मातृभाषा प्रेम, राष्ट्रभाषा प्रेम, आर्थिक समानता, ग्रामोद्योग, मद्यपान निषेध, स्वास्थ्य-सफाई, किसान-मजदूर संगठन, आदिवासियों की सेवा आदि गिनाए जा सकते हैं । इन कार्यों को निष्पन्न करने के उपरांत ही रामराज्य का स्वप्न पूरा हो सकता है । जहाँ सब जातियों-धर्मों के लोग मिलकर रहेंगे ।

2.5.4. आर्थिक विचारधारा :-

गाँधीजी ने भारतीय परम्परा के अनुकूल आर्थिक कार्यक्रम भी प्रस्तुत किया । उन्होंने आर्थिक विकास के लिए सर्वोदय, मशीनों का विरोध, ग्रामीण उद्योग धन्धों का प्रचार, खादी और चरखा, गोरक्षा आदि तत्वों का पालन आवश्यक समझते हैं । गाँधीजी के अनुसार " मेरी राय में हिन्दुस्तान की और सारे संसार की अर्थव्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि उसमें बिना खाने और कपड़े के कोई भी रहने न पावे ।"[1] सर्वोदय की यह स्थिति राजनीतिक स्वतंन्त्रता एवं स्वराज्य के

---

1. सर्वोदय - जनवरी 31

साथ जुड़ी हुई है । राजनीतिक दृष्टि से स्वतंत्र होने के पश्चात् ही कोई देश सबकी उन्नति, सबका हित और सबकी समृद्धि द्वारा सर्वोदय की प्राप्ति करता है ।

उद्योगीकरण का विरोध गांधीजी ने इसलिए किया क्योंकि बेकारी से ग्रसित गरीब देश के लोगों में मशीन और भी बेकारी फैलाएगी और असमानता को बढ़ाएगी । वह कहते थे - मेरा उद्देश्य मशीन को खत्म करना नहीं है, बल्कि उस पर नियंत्रण रखना है ।"[1] इसका समाधान ग्रामीण उद्योग-धंधों का विकास, बेकारी दूर कर खुशहाली और समानता लाने में है । खादी को गांधीजी भारत की समस्याओं की दवा समझते थे, क्योंकि इसके द्वारा जहाँ स्वदेशी के प्रचार के साथ विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करके भारतीय पूँजी की लूट को रोका और अंग्रेजी सरकार के हितों को धक्का पहुँचाया जा सकता था, वहाँ भारत की जनता में एकता, समानता एवं आर्थिक स्वतंत्रता एवं आत्म निर्भरता की भावना का उदय भी संभव था । अतः गाँधीजी का कथन है, स्वराज्य के समान ही खादी भी राष्ट्रीय जीवन के लिए श्वास के जितनी ही आवश्यक है जिस तरह स्वराज्य को हम नहीं छोड सकते उसी तरह खादी को भी नहीं छोड सकते । खादी छोडने के माने होंगे भारतीय जनता को बेच देना, भारत वर्ष की आत्मा को बेच देना ।"[2]

2.5.5 राजनीतिक विचारधारा :-

राजनीति, गाँधीजी के निकट सत्यमय होकर स्वीकृत थी । उन्होंने राजनीति को धर्मनीति से पुष्ट किया । अतः वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने

---

1. नवजीवन - 2 नवम्बर 1924
2. यंग इंडिया - 19 जनवरी 1928.

राजनीति के शरीर से कूटता का विष निकाल बाहर किया नई चेतना का प्रवाह संभव बनाया । उनका कथन है : बहुत से धार्मिक मनुष्य जिनसे मैं मिला हूँ भेद बदले हुए राजनीतिज्ञ हैं, लेकिन मैं जो राजनीति का जामा पहने हूँ हृदय से धार्मिक हूँ ।"[1] कहा जा सकता है कि वह राजनीति के ऐसे महात्मा थे जो तत्कालीन राजनीति को कुंडलियों से जनता को बाहर लाने का प्रयत्न कर रहे थे यह प्रयत्न धर्म को राजनीति में लाए बिना संभव नहीं था ।

महात्मा जी ने राजनीतिक उद्देश्य की स्वतंत्रता की सिध्दी के लिये आफ्रिका में उपयुक्त एवं सफल बने अस्त्र सत्याग्रह को भारत में भी उपयुक्त किया । गाँधीजी का सत्याग्रह-दर्शन सत्य के सर्वोच्च आदर्श से उत्पन्न हुआ है । गांधीजी का यह सत्याग्रह दर्शन सत्य, अहिंसा और प्रेम पर आधारित है । सत्याग्रह का शाब्दिक अर्थ है -- " सत्य को मानकर किसी वस्तु के लिए आग्रह करना अथवा सत्य और अहिंसा से उत्पन्न होने वाला बल । अतः सत्याग्रह आत्म-शक्ति अथवा प्रेम शक्ति का पर्यायवाची है ।"

गाँधीजी ने जीवन-भर भारत-राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए अथक परिश्रम किया, किन्तु उनकी राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता की विरोधी नहीं है, बल्कि उसके सहायक में हैं। उनके राष्ट्रवाद में एक ओर भारत के पीड़ित एवं दीन-दुखियों के उध्दार का भाव था और दूसरी ओर भारत को विश्व-

---

1. आधुनिक हिन्दी काव्य पर गाँधीवाद का प्रभाव - डॉ॰ जगनाथ आर्य
2. गोपीनाथ धवन, सर्वोदय तत्व दर्शन - पृ॰ 134.

भ्रातृत्व का, विश्व-सेवा का प्रबल साधन बनाने की आकांक्षा ।"[1] उनके राष्ट्रवाद में देश प्रेम के साथ ही विश्व-सेवा का भाव मुखरित है । इस प्रकार गाँधीजी प्रेम, अहिंसा एवं परस्पर सौहार्द से मानव जाति के विशालतम हित में राष्ट्र या देश की कल्पना करते हैं ।

स्वाभाविक है कि गाँधीजी के असाधारण व्यक्तित्व का प्रभाव उस समय संपूर्ण देश पर था । ई॰ 1920 के उपरान्त भारत पर गाँधीजी का एकछत्र प्रभाव रहा । राजनीतिक क्षेत्र पर तो उनका एकाधिकार था ही । जीवन का प्रत्येक अंग उनकी विचारधारा से प्रभावित रहा । साहित्य पर भी गाँधीजी की मानवतावादी एवं आदर्शवादी दृष्टि का प्रभाव हुआ । साहित्यकार समाज का संवेदनशील सदस्य होता है । अत: गाँधीजी के व्यक्तित्व और उनके सिध्दान्तों का प्रभाव उस पर पडना एकदम स्वाभाविक था । सियारामशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा नवीन, माखनलाल चतुर्वेदी, सोहनलाल द्विवेदी आदि कई कवि गान्धीवाद से सीधे प्रभावित थे तो अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पन्त, रामधारी सिंह दिनकर आदि कवियों ने भी गाँधीवाद से प्रभाव ग्रहण कर अपनी अनुभूति को नए आयाम प्रदान किए । रामनरेश त्रिपाठी, गोपाल शरण सिंह, आदि कवियों ने गाँधीवाद से प्रेरणा प्राप्त की ।

1· रामनाथ सुमन - गाँधीवाद की रुप रेखा - पृ· 49·

2·6· दिनकर के काव्य में गाँधीवाद :-

अन्य कवियों की तरह दिनकर भी अपने समय में प्रसरित, प्रचरित तथा प्रतिष्ठा को प्राप्त गाँधी के असाधारण व्यक्तित्व तथा उनकी विचार-धारा "गाँधीवाद" के प्रभाव को ग्रहण किया है। गाँधीवादी विचारधारा प्रमुख रूप से सत्य, अहिंसा, करुणा, क्षमा आदि मानवतावादी तथा आध्यात्मिक जीवन मूल्यों से संपृक्त है। दिनकर "कुरुक्षेत्र" तथा स्वातंत्र्योत्तर कृतियों में गाँधी-सम्मत क्षमा, करुणा, विश्व-प्रेम, विश्व-शांति आदि मानवतावादी जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा करते हैं।

(क) आध्यात्मिक विचारधारा :

सत्य और अहिंसा :-

गाँधीजी की सबसे बड़ी विशेषता "अहिंसा" के सिद्धान्त में दिखाई देती है। गाँधीजी ने अहिंसा का अर्थ केवल हिंसा न करना नहीं लिया था, अपितु उन्होंने अहिंसा को बड़ा व्यापक रूप दिया। उनका कहना था कि बुराई पृथक् वस्तु है और बुराई करनेवाले व्यक्ति, जाति या देश पृथक् है। अतः हमें बुराई का विरोध करना चाहिए न कि बुरे व्यक्ति का। क्योंकि जब वह व्यक्ति बुराई छोड देता है, तब वह भला हो जाता है। इसी कारण हमें सदैव क्रोध का मुकाबला शान्ति से, घृणा का मुकाबला प्रेम से तथा असाधुता का मुकाबला साधुता से करना चाहिए। गाँधीवाद का यही व्यापक अहिंसा सिद्धान्त है। दिनकर ने भी यह सिद्ध किया है कि अपहरण, शोषण, हिंसा आदि कुत्सित भावनाएँ मानव

के जीवन दर्शन की सबसे बड़ी रिक्तता है । मानव का श्रेय आत्मा के कथनानुसार चलने में है ।

" कुरुक्षेत्र " का भीष्म चाहते हैं - समस्त वसुधा पर करुणा, प्रेम, अहिंसा का साम्राज्य फैल जाय --

मैं भी हूँ सोचता, जगत से कैसे उठे जिघांसा
किस प्रकार फैले पृथ्वी पर करुणा, प्रेम, अहिंसा ।

गांधीजी के जीवन और दर्शन का सत्य तो ध्रुवतारा है । गांधीजी के मत से सत्य की अनुभूति के लिए निरन्तर अभ्यास अर्थात् इंद्रिय वासनाओं से विरक्ति, अहिंसा, ब्रह्मचर्य अस्तेय अपरिग्रह के व्रत आवश्यक हैं । सत्य के साधक गांधीजी ने भारतीय जीवन में पदार्पण के साथ ही " सत्य ", " सत्याग्रह ", " प्रेम " और " अहिंसा " के मन्त्र वातावरण में गूँजने लगे ।

गांधीजी के " सत्य " और " अहिंसा " के सन्दर्भ में हरिभाऊ उपाध्याय ने लिखा है -- " गांधीवाद के दो ध्रुव सत्य है जिन्हें गांधीजी सत्य और अहिंसा कहा करते हैं । यही गांधीवादी के पथप्रदर्शक सिध्दान्त हैं जिनको मिलाकर गांधीजी ने एक सुन्दर और तेजस्वी नाम दे दिया है सत्याग्रह ।"[2] सब प्रकार के अन्याय, उत्पीड़न और शोषण के विरुध्द शुध्दतम आत्मबल का प्रयोग ही सत्याग्रह है । इस सन्दर्भ में गांधीजी का कहना है -- " सत्याग्रह मनुष्य का जन्मसिध्द अधिकार है । सत्याग्रह की पध्दति से व्यक्ति और समाज की सभी प्रकार की अंतर्निहित बुराइयों तथा

1· कुरुक्षेत्र - दिनकर - पृ· 41·
2· आधुनिक हिन्दी काव्य में गांधी दर्शन - हरिभाऊ उपाध्याय - पृ·

संघर्षों का प्रतिकार अहिंसक तरीके से किया जा सकता है और उसकी स्थिति सुधारी जा सकती है। सम्पूर्ण मानव इतिहास में गांधी को छोड़कर किसी दूसरे ने इसका प्रयोग इतने व्यापक क्षेत्र (आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक) में नहीं किया था। इस सत्याग्रह धर्म को कवि दिनकर ने सच्चे रूप में हृदयंगम करके कविता में प्रतिष्ठित किया।

सत्य के मार्ग पर चलनेवाले के लिए पहली शर्त निर्भयता से प्राण तथा दूसरी शर्त अपना बलिदान करना है। दिनकर की कृतियों में इसी समर्पण की प्रखर चेतना उदभासित है। कवि ने सत्याग्रह को कष्ट सहिष्णु बनकर बली पथ पर न्यौछावर होने का महान संदेश दिया है।

> पीले विष के घूँट बहक तब मजा सुरा पीने का है
> तन पर बिजली का वार सहे यह गर्व नए सोने का है
> सिर की कीमत का मान हुआ, तब त्याग कहाँ ? -
> बलिदान कहाँ ?
> गर्जन हजत पर दिए फिरे, तब मजा यहा जीने का है।[1]

गाँधीजी के सिद्धान्तों के साथ-साथ उनके महामहिम विराट व्यक्तित्व तथा उनकी अद्भुत आध्यात्मिक शक्ति के प्रति कवि ने अगाध श्रद्धा व्यक्त की है। उसका प्रमाण है कवि का बापू काव्य --

---

1. चक्रवाल - दिनकर - पृ. 150.

पर, तू इन सब से भिन्न ज्योति
जता जेता से महीयान
कूटस्थ पुरूष ! तेरा आसन
सबसे ऊँचा, सबसे महान ।[1]

धार्मिक विचारधारा :-

दिनकर धार्मिक प्रवृत्ति के कवि थे । धर्म में उनकी आस्था थी । गांधी की तरह उन्होंने भी धर्म को जीवन और समाज का आधार भूत अंग के रूप में स्वीकार किया है । वे भी धार्मिक संकीर्णता अंधविश्वासों और बाह्याडम्बरों का विरोध करते हैं । दिनकर जी सभी धर्मों को मूल रूप से एक मानते हैं । दिनकर का मत है कि वास्तविक धर्म बाह्याचारों और अनुष्ठानों में निहित न होकर मन की एकाग्रता, समाधि और आत्मिक प्रसार में है । उनका संदेश है कि भेद-भाव में पड़ी जनता अपनी स्थितियों से लड़े तो निश्चय ही विजय प्राप्त होगी । धर्म के नाम पर लड़नेवाले खंड-खंड में विभक्त में विभक्त भारतवासी स्वतंत्र नहीं हो सकते । कलह की ज्वाला में जलनेवाले देश की दशा कितनी दयनीय है ।

ओ बदनसीब इस ज्वाला में आदर्श तुम्हारा जलता है,
समझायें कैसे तुम्हें कि, भारत वर्ष तुम्हारा जलता है ?
जलते हैं हिन्दू मुसलमान, भारत की आँखें जलती हैं
आनेवाली आजादी की लो, दोनों पाँखें जलती हैं । [2]

1· बापू - दिनकर - पृ· 7·
2· सामधेनी - दिनकर - पृ· 35·

दिनकर के काव्य में गांधीवादी सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना :-

गांधी एक ऐसे सन्त थे जो सभी प्राणियों में ईश्वर का दर्शन करते थे। ऐसी स्थिति में स्वतः पीड़ित मानवता की रक्षा के लिये पीड़ित तो नहीं हुये किन्तु उन्होंने अपने काव्य के माध्यम से पीड़ित मानवता का मार्ग दर्शन अवश्य किया। वर्तमान समाज व्यवस्था की विषमताओं पर दृष्टिपात करते हुए दिनकर ने अपने काव्य के माध्यम से दो तरह से सामाजिक एकता की ओर संकेत किया है। एक ओर " कुरुक्षेत्र " में अतीत सामाजिक व्यवस्था की विशिष्टता बताकर वर्तमान समाज व्यवस्था को भी उसी रूप में ढालने की प्रेरणा दी है तथा " इतिहास के आँसू " में समाज की उन सड़ी भावनाओं के लिए कुछ तो स्वयं भगवान को दोषी ठहराया है तथा कुछ समाज के उन धार्मिक ठेकेदारों के प्रति व्यंग्य किया है जो मन्दिरों एवं भगवान पर अपना एकाधिकार समझते हैं। अछूतों के मन्दिर प्रवेश की निषिद्धता के दिग्दर्शन में दिनकर की निम्नलिखित पंक्तियाँ सिद्ध करती है कि अपने को स्वर्ग कहनेवाले अहंकारी व्यक्ति में विवेक की कितनी अल्पता है। उसे यह भी ज्ञान नहीं कि भगवान तो स्वयं दीनबन्धु है क्या इसके मुद्राओं द्वारा निर्मित भव्य मन्दिर में वह रहेगा।

> आज दीनता को प्रभु की पूजा का भी अधिकार नहीं
> देव ! बना था क्या दुनियाँ के लिए निठुर संसार नहीं है
> धन के पिशाच की विजय, धर्म की पावन ज्योति अदृश्य हुई
> दौड़ो बोधिसत्व ! भारत में मानवता अस्पृश्य हुई। [1]

x x x x

1· आधुनिक हिन्दी कविता - डॉ· सुधाकर गोकाकर - पृ· 287·

धूप दीप भारती कुसुम ले भक्त प्रेमवश आते हैं।
मन्दिर का पट बन्द देख "जय" कह निराश फिर जाते हैं।
शबरी के जूठे बेरों से आज राम को प्रेम नहीं
मेवा छोड़ शाक खाने का याद पुरातन नेम नहीं ।[1]

उन्हें गाँधी के इस दिशा में उठे कदम, उनके सात्पयत्नों को देख प्रसन्नता होती है। इस आपद छन्दों में उन्हें गाँधी से मिलते-जुलते व्यक्तित्व बोधिसत्व का स्मरण हो जाता है। वे उनसे पुनरागमन का आग्रह करते हैं। वह अवसर उन्हें उनके आविर्भूत होने के सर्वथा उपयुक्त जँचता है --

अनाचार की तीव्र आँच में अपमानित अकुलाते हैं
जागो बोधिसत्व । भारत के हरिजन तुम्हें बुलाते हैं ।
जागो विप्लव के वाक् । दम्भियों के इन अत्याचारों से
जागो, हे जागो, तप-निधान ! दलितों के हाहाकारों से ।[2]

नारी-जीवन-स्थिति-सुधार :-

गाँधीजी ने भारतीय समाज में नारी जीवन-स्थिति सुधार को भी अपने कार्यक्रम के अन्तर्गत रखा था । उन्होंने युग-युग से पद-दलित, अपमानित, तिरस्कृत नारी जाति को खुलकर समाज में आने, समाज व राजनीति के कार्यों में खुलकर भाग लेने, परिवार की सीमित चहारदीवारी को तोड़ बाहर निकलने, अपनी जीवन स्थिति में सुधार लाने का प्रयत्न अपने आप करने, स्वावलम्बी,

---

1. आधुनिक हिन्दी कविता में गांधीवाद का प्रभाव - डा. जगन्नाथ शर्मा
   पृ. - 128.
2. रेणुका - रामधारी सिंह दिनकर - पृ. 28.

आत्म निर्भर बनने के लिए आह्वान किया । नारी की स्थिति दिनकर से भी छिपी न थी । उन्होंने भी " रश्मिरथी " में कुन्ती के मुख से नारी की असमर्थता उसकी दीन-हीन दशा की ओर संकेत कर पाया है --

बेटा, धरती पर बड़ी दीन है नारी
अबला होती, सचमुच योषिता कुमारी ।
है कठिन बन्द करना समाज के मुख को
सिर उठा न पा सकती पतिता निज सुख को ।[1]

साथ ही, उसे जड़-समाज पर पाँव धर कर चलने की प्रेरणा दी है और उसे समाज के प्रमुख धर्म-ध्वजधारी के सम्मुख निर्भीकतापूर्वक खुलकर प्रकाश में आने, अपनी जीवन-स्थिति में सुधार हेतु अपना कदम आगे बढ़ाने की बात कही है । " रश्मिरथी " में ही कर्ण कुन्ती से कहता है --

शायद समाज टूटता वज्र बन तुम पर
शायद, घिरते दुःख के कराल घन तुम पर ।
शायद, विमुक्त होना पड़ता परिजन से,
शायद, चल देना पड़ता तुम्हें भवन से ।
पर, सह विपत्ति की मार अड़ी रहती तुम,
जग के समक्ष निर्भीक खड़ी रहती तुम ।
पी सुधा जहर को देख नहीं घबराती,
था किया प्रेम तो बढ़कर मोल चुकाती ।[2]

1· रश्मिरथी - रामधारी सिंह दिनकर - पृ· 18·
2· - वही - पृ· 78·

उसके इस कथन से स्पष्ट है कि कवि नहीं चाहता कि नारी समाज के भय से भीत प्रकंपित बनी रहे। कवि का युग परिवेश ही ऐसा था जब सर्वत्र चतुर्दिक् नारी-जीवन स्थिति में सुधार की आवाज बुलन्द हो रही थी। उस समय के सभी धर्म सुधारकों, समाज सुधारकों, राजनीति के क्षेत्र में सुधार की इच्छा रखनेवालों को नारी-जीवन की गिरी दशा पर क्षोभ हो रहा था। अतः सबने एक स्वर से इसकी अनिवार्यता का समर्थन किया था परिणामतः नारी जगत में आत्म स्थिति सुधार की एक जबर्दस्त लहर उत्पन्न हुई जिसने उसे सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त होने का साहस प्रदान किया। जो नारी अब तक चुपचाप परिवार की चहारदीवारी के बीच कैद, पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ी, पीडा की घुटन का अनुभव मन-ही-मन कर रही थी, उसकी सुप्त चेतना ने अंगड़ाई ली। समाज के विरुद्ध जबान खोलने की उसमें क्षमता आई, अपनी गिरी दशा के प्रति वह सचेष्ट हुई। उसमें यह कहने का साहस, बल संचार हो गया --

उस जड़ समाज के सिर पर कदम धरूँगी
डर चुकी बहुत, अब और न अधिक डरूँगी।[1]

रामराज्य का प्रभाव :-

गांधीजी का सामाजिक पुनर्निर्माण का सिद्धान्त रामराज्य के लक्ष्य से प्रेरित है। इसमें सामाजिक पुनर्निर्माण की इकाई ग्राम है। ग्राम स्वावलम्बी व्यक्तियों के संघ होंगे और राज्य स्वावलम्बी ग्रामों का संघ होगा।

---

1. रश्मिरथी - दिनकर - पृ. 71.

गांधीजी अहिंसात्मक लोकतन्त्रीय राज्य की स्थापना करना चाहते थे। उनकी व्यवस्था धार्मिक और आध्यात्मिक है। सामाजिक पुनर्निर्माण में गांधीजी ने ग्रामोद्योग, कुटीर उद्योग और हस्तकलाओं पर बडा जोर दिया है।

गांधीजी द्वारा अनुमोदित शासन व्यवस्था अथवा रामराज्य के दृष्टिकोण के अनुरूप दिनकर " कुरुक्षेत्र " में कहते हैं --

वह लोक जहाँ शोषित का ताप नहीं है,
नर के सिर पर रण का अभिशाप नहीं है,
जीवन समता की छाह तले पलता है,
घर घर पीयूष-प्रदीप जहाँ जलता है।[1]

कुरुक्षेत्र में (अन्तिम सर्ग) दिनकर ने राजतन्त्र की कटु आलोचना के साथ प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली की सफलता के लिए नैतिकमूल्यों एवं धार्मिक तत्वों को सम्मिलित करके मानव को कर्मरत रहने की प्रेरणा दी है। उनकी मान्यता है कि अकर्मण्यता से न तो मानव जीवन सुखी हो सकता है नही रामराज्य की स्थापना सम्भव है। यही कारण है कि भीष्म और युधिष्ठर निष्काम कर्म द्वारा विविक्त एवं आहत वसुधा को अमृत पान करने का उपदेश देते हैं। भीष्म की यह उदात्त भावना भारत में पुन: सर्वे: सुखिन: सन्तु " के पूर्व कालिक आदर्श को पुन: प्रतिष्ठापित करने में पूर्ण योग देती है। गांधीजी की समस्त अन्तर्वृत्ति देश का स्वार्गीकरण इसी आधार पर चाहती थी। उसका मार्ग स्नेह, बलिदान, सहानुभूति आदि दैव गुण थे जिसमें उन्होंने एकत्व किन्तु महत्वपूर्ण त्वनिष्काम कर्म को सम्मिलित करके मानव को सर्वसुख प्रदान करने का यथेष्ट प्रयत्न किया। यही भाव " कुरुक्षेत्र " में भीष्म के इस कथन में मिलता है --

---

1. आधुनिक हिन्दी पर गांधीवाद का प्रभाव - डॉ॰जगन्नाथ आर्य - पृ॰113॰

हार से मनुष्य को न महिमा घटेगी और
तेज न बढ़ेगा किसी मानव का जीत से,
स्नेह बलिदान होंगे माप नरता के एक
धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग प्रीति से ।[1]

दिनकर ने " कुरुक्षेत्र " के माध्यम से ऐसी शासन व्यवस्था के प्रति आस्थावान हैं, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति धर्म के सूत्र में आबद्ध, ऊँच-नीच के बन्धन से मुक्त अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करता हुआ जीवन यापन की समान सुविधा प्राप्त कर सके ।

गांधीवादी मानवतावाद :-

राष्ट्रीय भावना के साथ दिनकर में जो लोक कल्याण की उदात्त भावना का उच्च आदर्श मिलता है उस पर भी गांधीवादी मानवतावाद की छाप है । गांधी के मानवतावाद सम्बन्धी विचारों से प्रभावित होकर दिनकर ने अपनी लेखनी द्वारा मानवता का सुखद स्वर निनादित किया । उन्होंने भी विश्व को ऐसे नीड़ के रूप में प्रतिष्ठित किया जहाँ मानव देश, जाति, लिंग, वर्ग आदि सीमाओं का अतिक्रमण करके समानता पूर्वक भ्रातृत्व प्रेम में सूत्र बद्ध होकर एक दूसरे के सुख दु:ख में भागीदार हो सके ।"

दिनकर मानवतावादी कवि हैं । वे समाज और राष्ट्र में विश्व मानवता का रूप उसी रूप में देखते है जिस रूप में गांधीजी ने उसका प्रचार एवं प्रसार किया । अपनी राष्ट्रीय भावना के स्पष्टीकरण में गांधी ने

---

1. कुरुक्षेत्र - दिनकर - अंतिम सर्ग - पृ.

स्वीकार किया है कि " मेरी राष्ट्रीयता में प्राणिमात्र का समावेश होता है । गांधी के इस कथन एवं उनकी क्रियात्मकता में कुछ विरोध दृष्टिगोचर हो सकता है क्योंकि उनकी क्रियाशीलता भारत के नवनिर्माण में अधिक थी किन्तु अपने इस सिध्दान्त से विश्व के सम्मुख एक ऐसा आदर्श प्रस्तुत कर रहे थे, जिसमें समस्त प्राणिमात्र समाविष्ट थे । गांधी के वसुधैव कुटुम्बकम का औदार्य भाव दिनकर जी के काव्यों में भी मिलता है । मानवता की प्रतिष्ठा में समाज की वैषम्यमयी भावना को सत्य, अहिंसा, एवं प्रेम से समाप्त करके मानव एकीकरण पर दिनकर जी का विशेषबल है । दिनकर ने गांधी को " मानवता की महान पूंजी माना है ।

दिनकर के " कुरुक्षेत्र " तथा " इतिहास के आँसू " कृतियों को गांधीवादी मानवतावाद के पार्श्व में देखा जा सकता है । " कुरुक्षेत्र " के आरम्भिक सर्ग में ही धर्म, तप, करुणा, क्षमा, विनय, त्याग आदि मानवीय मूल्यों की उपादेयता का दिग्दर्शन तथा मानव कल्याण के लिए भौतिक उन्नति को हेय बता कर प्राण प्रसूत प्रण्य को श्रेय बतलाना, मानव को मानव के लिए अपनी आयु तक अर्पित करना मानवतावादी उदात्त भावना को प्रतिष्ठित करना है । दिकर ने उस ज्ञान विज्ञान का विरोध किया है जिसके दाहक आविष्कार से जनता जलती जा रही है । मानवता का कल्याण करनेवाली शंकरी बुध्दि का कवि ने हृदय से स्वागत किया है । इस भावना के अन्तराल में गांधीवादी मानवतावाद का प्रभाव मुखरित हुआ है ।

कर्मयोग :-

गाँधीजी कर्मयोगी थे । अकर्मण्य, परमुखापेक्षी जीवन से उन्हें नफरत थी । स्वावलम्बिता, आत्म निर्भरता को वे मानव-जीवन के लिए उपयोगी, हितकर समझते थे । इनके कर्मयोग से प्रभावित दिनकर मानव को कर्म करने की प्रेरणा देते हैं । उन्हें समस्त सृष्टि, सकल महीतल से ही कर्मभूमि लगता है । सर्वत्र कर्म की, कर्म करने वालों की धूम मची है । उन्हें सृष्टि का एक-एक कण कर्मनिरत दीख पड़ता है । क्रिया, कर्म, धर्म की अवहेलना कर उसे त्याग कर मानव जीवन कदापि सुखी नहीं हो सकता । कर्म निरतता मानव-जीवन-विकास की संजीवनी है । दिनकर की दृष्टि में कर्म अनिवार्य है, उसे हेय दृष्टि से नहीं देखा जा सकता लेकिन उसका सम्पादन बुद्धि से ही होना चाहिए । " कुरुक्षेत्र " में भीष्म ने युधिष्ठिर को जिस कर्म-योग का सन्देश दिया है उनमें लोक-संग्रह की भावना विद्यमान है । उन्होंने कर्मयोगियों के लिए लोक-संग्रह की भावना को भी अभिनन्दनीय ही स्वीकार किया है --

निज को ही देखो न युधिष्ठिर !
देखो निखिल भुवन को
स्वत्व शान्ति-सुख की ईहा से
निरत व्यग्र जन-जन को ।[1]

दिनकर कहता है कि कर्मठ मनुष्य का पन्थ सन्यास नहीं है । अमरत्व प्राप्ति के लिए कर्मण्यता अनिवार्य है । निरन्तर कर्म करते रहने से किसी की आयु कम नहीं होती बल्कि उससे तो वह और बढ़ती है । कवि पुरुषार्थ को मानव का एक मात्र धर्म समझता है अतः कर्ण के माध्यम से कहता है --

---

1. कुरुक्षेत्र - रामधारी सिंह दिनकर - पृ. 17.

कुल-गोत्र नहीं साधन मेरा,
पुरूषार्थ एक बस धन मेरा,
कुल ने तो मुझको फेंक दिया,
मैं ने हिम्मत से काम लिया ।"[1]

दिनकर ने प्रवृत्ति और निवृत्ति दो मार्गों में से प्रवृत्ति को ही मानव-जीवन के लिए श्रेयस्कर स्वीकार किया है और कर्म के साथ मानव का अविच्छिन्न संबंध बतलाते हुए मानव-जीवन में उसकी उपयोगिता पर प्रकाश डाला है ।

लोक संग्रह की भावना :-

गाँधीजी ने लोक संग्रह की भावना की महत्ता को न केवल स्वीकार किया था बल्कि उसे कर्मयोगी का अभिनन्दनीय कर्म ठहराया था । गाँधीजी की इसी लोक-संग्रह भावना से प्रभावित दिनकर ने भीष्म को युधिष्ठिर को उपदेश देने के लिए प्रेरित किया है । भीष्म कहते हैं तुम - आत्म-हित-रतता का त्याग कर समस्त जगत् के हित की बात सोचो कारण प्रत्येक व्यक्ति भी उसी शांति की प्राप्ति की चाह रखता है जैसे तुम रखते हो --

निज को ही देखो न युधिष्ठिर !
देखो निखिल भुवन को
स्वत शान्ति-सुख की ईहा में
निरत, व्यग्र जन-जन को ।[2]

---

1. रश्मिरथी - रामधारी सिंह दिनकर - पृ. 40.
2. कुरुक्षेत्र - वही - पृ. 149.

सच्चे प्रेमी :-

बापू में सच्चे प्रेमी की आत्मा छिपी हुई थी । ईसा के समान वे सभी प्राणियों को समान रूप से प्यार करते थे । तिरस्कृत होकर भी, कष्टों में पड़कर भी वे तिरस्कार करनेवाले, पीड़ा पहुँचानेवाले का भला चाहते थे, उसे आदर-सम्मान देते थे । कठोरता की बू-बास उनमें नहीं थी । जहर का जवाब अमृत से देने के वे अभ्यास थे । उनके व्यक्तित्व की इस खूबी की ओर दिनकर संकेत करते हैं --

प्रेमी की यह पहचान परुषता
को न जीभ पर लाते हैं,
दुनिया देती है जहर, किन्तु
वे सुधा छिड़कते जाते हैं ।[1]

गाँधी के व्यक्तित्व की इन्हीं विशिष्टताओं से प्रभावित कवि ने उनका समकालीन होने के लिए अपने आत्म को सराहा है । अपने लिए ऐसा होना उन्होंने न केवल सौभाग्य की बात बल्कि अपने द्वारा किए गए पूर्वजन्म के सुकर्म के फल की प्राप्ति समझा है । उन्हें प्रसन्नता होती है - गाँधी के पवन शरीर को छूकर बहने वाली हवा का स्पर्श सुख प्राप्त कर --

यह छोटी सी भंगुर उमंग
पर कितना अच्छा नाता है,
लगता है पवन वही मुझको
जो छू कर तुमको आता है । [2]

1· बापू - दिनकर - पृ· 27·
2· - वही - पृ· 30·

निष्कर्ष :-

निष्कर्ष में हम यह कह सकते हैं कि कवि दिनकर ने अपने समय में प्रसारित, प्रचारित तथा प्रतिष्ठा को प्राप्त गाँधी के व्यक्तित्व तथा उनकी विचारधारा गाँधीवाद के प्रभाव को ग्रहण किया है और अपने काव्यों के माध्यम से उसके प्रचार, प्रसार में सहायता प्रदान की है। लेकिन इतना अवश्य है कि इनकी कृतियों में प्रसंगवशात ही यत्र-तत्र गाँधीवादी विचार-धारा के दर्शन होते हैं। कवि ने वाद के रूप में उसी को अपनाकर रचनाएँ प्रस्तुत नहीं की है। गाँधीजी के विचार-दर्शन के रूप में ही कृतियों में आए है, साहित्यिक विषय वस्तु अथवा शैली के रूप में नहीं।

तृतीय अध्याय

वैचारिक स्रोतों की तलाश

3. स्वामी विवेकानन्द और दिनकर

भारतीय जीवन में नवजागरण की दृष्टि से स्वामी विवेकानन्द की चर्चा अक्सर होती है। धार्मिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय, राजनीतिक सभी स्तरों पर विवेकानन्द की विचारधारा का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। उन्होंने भारतीय जनता में राष्ट्रीय भावबोध, स्वाभिमान, आत्मगौरव की भावना का संचार करने के लिये उपनिषदों का सहारा दृढ़ आधार ग्रहण किया। भारत की उन्नति के लिए, स्वामी विवेकानन्द ने आध्यात्म मार्ग का अवलम्ब ग्रहण कर वेदान्ती होने के नाते समस्त जीवनोपयोगी तत्वों का चयन उक्त दृष्टि से ही किया। भारत की उन्नति के लिये धर्म प्रचार को वे आवश्यक समझते थे। मानव-कल्याण की भावना से वे मानव मात्र में ईश्वर के दर्शन करते हैं तथा ईश्वर सेवा को मानव-सेवा का पर्याय मानते हैं। यही नहीं उन्होंने समग्र प्राणी जगत् के प्रति प्रीतिपूर्ण व्यवहार करने का आग्रह किया है।

विवेकानन्द ने अपनी वाणी और कर्तृत्व से भारतवासियों में यह अभिमान जगाया कि हम अत्यन्त प्राचीन सभ्यता के उत्तराधिकारी हैं; हमारे धार्मिक ग्रन्थ संसार में सबसे उन्नत और हमारा इतिहास सबसे महान् है। हमारा धर्म ऐसा है जो विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरता है और जो विश्व के सभी धर्मों का सार होता हुआ भी उन सबसे अधिक है।

विवेकानन्द प्रत्येक जीव में ब्रह्म की सत्ता स्वीकार कर उसे अत्यन्त महान घोषित करते हैं। इस निहित ब्रह्मत्व का अनुभव करना ही जीव का लक्ष्य है। उनके अनुसार ईश्वर और जीव में भी प्रेमपूर्ण सम्बन्ध होना चाहिए। स्वामी जी ने आत्मा-परमात्मा में अभेद सम्बन्ध स्वीकार किया है। इसी कारण उनकी दृष्टि में परमात्मा के दर्शन का अर्थ है आत्म साक्षात्कार। स्वामीजी के अनुसार मानव जीवन में ही आत्म साक्षात्कार की अनुभूति की जा सकती है। इसके लिए मृत्यु अनिवार्य नहीं।

विवेकानन्द जी का वेदान्त यह दीक्षा देता है कि मनुष्य के सिवा दूसरा ईश्वर नहीं है। उनके वेदान्त का सूत्र भी जगत् में मनुष्य की उपासना है। स्वामी जी की दृष्टि में प्रेम जीवन का मूलमंत्र है। यह प्रेम सर्वसाक्षी, सर्व व्यापी और सर्वत्र है। संसार में वही एकमात्र शक्ति है। वे कहते हैं "प्रेम की शक्तिमत्ता पर विश्वास करो, प्रेम, प्रेम ही के लिए करो, क्योंकि एकमात्र प्रेम ही जीवन का ठीक वैसा आधार है जैसा जीवन के लिये श्वास लेना। इसके द्वारा ईश्वर की प्राप्ति होती है।

स्वामी विवेकानन्द उस "सेतु" के रूप में हैं जहाँ प्राचीन और नवीन भारत का परस्पर आलिंगन देख सकते हैं। वे उस समुद्र की तरह हैं जहाँ धर्म और राजनीति, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता तथा उपनिषद

और विज्ञान सब-के-सब समाहित हैं । दिनकर के अनुसार " अभिनव भारत को जो कुछ कहना था, वह विवेकानन्द के मुख से उद्गीर्ण हुआ । अभिनव भारत को जिस दिशा की ओर जाना था, उसका स्पष्ट संकेत विवेकानन्द ने दिया है ।

स्वामी जी के बारे में महर्षि अरविन्द ने कहा है - " पश्चिमी जगत में विवेकानन्द को जो सफलता मिली, वह इस बात का प्रमाण है कि भारत केवल मृत्यु से बचने को नहीं जगा है, वरन् वह विश्व-विजय करके दम लेगा ।[1]

स्वामी जी ने धर्म को जीवन का महत्वपूर्ण अंग मानकर, उसे भारत का कल्याण शक्ति साधना में निरूपित किया है जहाँ परमहंस रामकृष्ण का प्रभाव सुरक्षित है । विश्वबंधुत्व पर जोर देने वाले विवेकानन्द स्वामी जी ने नारी के प्रति उदारता का परिचय देकर विराट् की पूजा को आवश्यक माना है । हिन्दू धर्म और संस्कृति के प्रबल समर्थक के रूप में उन्हें माना जाता है जिनकी उदारता का कोई दूसरा जवाब नहीं ।

3.1. विवेकानन्द का धार्मिक दृष्टिकोण :-

जीवन में धर्म और संस्कृति की महत्ता अकाट्य है । धर्म जीवन की उस पद्धति विशेष का नाम है जो मनुष्य के आचार विचारों को संयमित, परिष्कृत एवं परिमार्जित, चरित्र को उज्ज्वल एवं उदात्त तथा मानव मन को अध्यात्मोन्मुख करती है । स्वस्थ-संतुलित समाज की स्थापना के लिए

---

1. संस्कृति के चार अध्याय - दिनकर - पृ. 590.

मानव-जीवन में धर्म की प्रतिष्ठा अपरिहार्य है । धर्म को परिभाषित करते हुए दिनकर ने उसे जीवन के लिए अनिवार्य माना है । धर्म मनुष्य का स्वाभाविक गुण है । वह सभ्यता का सबसे बड़ा मित्र है । जीवन धर्म से वियुक्त होने पर नीचे गिर जाता है और जब धर्म से उसका मेल होता है, वह ऊपर को उठने लगता है ।

भारत वासियों के लिए स्वामी विवेकानन्द ने जो उपदेश दिया वह केवल धर्म के लिए नहीं था, प्रत्युत उन्होंने यहाँ के लोगों को असन्तोष जगाना चाहा, उन्हें कर्म की भावना से आन्दोलित करने की चेष्टा की तथा शताब्दियों से आती हुई निवृत्ति की विषैली जंजीरों से मुक्त करके उन्होंने भारतवासियों को प्रवृत्ति के कर्म मार्ग पर आरूढ़ करने का प्रयास किया ।

रूढ़ियों, आडम्बरों और बाहयाचारों से ऊपर उठ कर स्वामीजी ने धर्म की विलक्षण व्याख्या प्रस्तुत की । वे कहते है धर्म मनुष्य के भीतर निहित देवत्व का विकास है । धर्म न तो पुस्तकों में है । न धार्मिक सिद्धान्तों में । वह केवल अनुभूति में निवास करता है ।" व्यक्ति और समाज दोनों की रक्षा और शान्ति के लिए स्वामीजी धर्म को आवश्यक मानते थे । उनका विचार था धर्महीन सभ्यता निरी पशुता का उज्जवल रूप है तथा उसका विनाश उसी प्रकार अवश्यम्भावी है, जो अतीत के अनेक साम्राज्य विनष्ट हुए हैं ।

---

1. संस्कृति के चार अध्याय - दिनकर - पृ. 622.

धर्म अन्ध-विश्वास नहीं है । धर्म अलौकिकता में नहीं है । वह जीवन का अत्यन्त स्वाभाविक तत्व है । मनुष्य में पूर्णता की इच्छा है, अनन्त की कामना है, ज्ञान और आनन्द प्राप्त करने की चाह है । पूर्णता, ज्ञान, और आनन्द ये निचले स्तर पर नहीं हैं । उनकी खोज जीवन के उच्च स्तर पर की जानी चाहिये । जहाँ ऊँचा स्तर आता है वहीं धर्म का आरम्भ होता है ।

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने विवेकानन्द के इस धार्मिक दृष्टिकोण के सन्दर्भ में लिखा है " स्वामी विवेकानन्द का धर्म राष्ट्रीयता की उत्तेजना देनेवाला धर्म था । नयी-पीढ़ी के लोगों में उन्होंने भारत के प्रति भक्ति जगायी, उसके अतीत के प्रति गौरव एवं उसके भविष्य के प्रति आस्था उत्पन्न की । उनके उद्गारों से लोगों में आत्म निर्भरता और स्वाभिमान के भाव जगे हैं । स्वामीजी ने सुस्पष्ट रूप से राजनीति का एक भी संदेश नहीं दिया, किन्तु जो भी उनके अथवा उनकी रचनाओं के सम्पर्क में आया, उसमें देशभक्ति और राजनैतिक मानसिकता आप-से-आप उत्पन्न हो गयी ।"

विवेकानन्द का कथन है कि मनुष्य देवताओं की अर्चना इसलिये करता हैं कि देवताओं का मन एक है । मन से एक होना समाज के अस्तित्व का सार है । किन्तु द्रविड़ और आर्य, ब्राह्मण और अब्राहम्ण, इन तुच्छ विवादों में पड़ कर तुम जितना ही झगड़ते जाओगे तुम्हारी शक्ति उतनी ही क्षीण होती जायगी, तुम्हारा संकल्प एकता से उतना ही दूर पड़ता जायगा । स्मरण रखो कि शक्ति-संचय और संकल्प की एकता, इन्हीं पर भारत का भविष्य निर्भर करता है । जब तक महान् कार्यों के लिए तुम अपनी शक्तियों का संचय नहीं करते, जब तक एक-मन होकर तुम आत्मोद्धार के कार्य में नहीं लगते, तब तुम्हारा कल्याण नहीं है ।

स्वामीजी के सभी धार्मिक विचार इनके निजी अनुभवों से निकले थे। इसलिए उनकी भाषा में वही वेधकता और सचाई मिलती है, जो उपनिषदों में दिखायी देती है, जो ईसा तथा परमहंस रामकृष्ण के उद्‌गारों भरी हुई है। पुस्तकीय और तर्कसम्मत ज्ञान में सचाई की वह आग नहीं होती जो अनुभव जनित ज्ञान में होती है। विवेकानन्द ने धार्मिक सत्यों को खोजा नहीं। अपने जीवन में उनकी अनुभूति की थी। इसलिए, उनके विचारों में कहीं-कहीं वह विरोधाभास भी है जो उपनिषदों में मिलता है।

स्वामीजी कहते हैं "आत्मा की भाषा एक है, किन्तु जातियों की भाषाएँ अनेक होती हैं। धर्म आत्मा की वाणी है। वह वाणी अनेक जातियों की विविध भाषाओं तथा रीति रिवाजों में अभिव्यक्त हो रही हैं। आगे विवेकानन्द कहते हैं, जो जाति भूख से तड़प रही हैं, उसके आगे धर्म परोसना, उसका अपमान है। जो जाति रोटी को तरस रही है। उसके हाथ में दर्शन और धर्मग्रन्थ रखना उसका मजाक उड़ाना है।

स्वामी विवेकानन्द संसार में घूम कर देख चुके थे कि नयी मानवता कितनी उच्छल और बलवती है। उसकी तुलना में भारत के लोग उन्हें बौने और बीमार दिखायी दिये। अतएव भारत में उनके अधिकांश उपदेश उन्नति, साहस और सेवा और कर्म की महत्ता सिद्ध करने को दिये गये। भारत वर्ष को वे क्षीण और कोमल-वपु सन्यासियों का देश बनाना नहीं चाहते थे, न उनका यही उद्‌देश्य था कि यहां के लोग अनिवार्यत: शाकभोजी होकर धर्म की साधना करते हुए निर्धनता और गुलामी का देश सहें और मौन रहें।

दिनकर जी का धार्मिक दृष्टिकोण भी व्यापक मानवीय मूल्यों से संपृक्त है । वे कोमलता, करुणा, त्याग, विश्वमैत्री, विश्व-बन्धुत्व और विश्व शान्ति में धर्म के तत्व निहित मानते हुए कहते हैं --
" धर्म कोमलता है, धर्म दया है, धर्म विश्व बन्धुत्व और शान्ति है । कोमलता, दया और त्याग ये आज भी आवश्यक है और धर्म में जो स्थान पहले वैयक्तिक मुक्ति का था वह अब विश्व बन्धुत्व और शांति का माना जाना चाहिए ।"

दिनकर जी का मत है कि वास्तविक धर्म बाह्याचारों और अनुष्ठानों में निहित न होकर मन की एकाग्रता, समाधि और आत्मिक प्रसार में है । बाह्याचारों और अनुष्ठान से निचले स्तर की क्रियाएँ हैं । ऊँचा धर्म आचारों और अनुष्ठानों में नहीं बसता । वह मन की एकाग्रता और समाधि में जगता है । जहाँ धर्म ईश्वर से एकाकार होने की चेष्टा करते हैं । धर्म की भाषा औपचारिक प्रार्थना और स्तोत्र नहीं, प्रत्युत, आत्मिक अनुभूति की भाषा होती है । उन्होंने धार्मिक संकीर्णता, अंधविश्वासों और बाह्याडम्बरों का विरोध कर अपने उदार और स्वस्थ धार्मिक दृष्टिकोण का परिचय दिया है । अपनी कविताओं में कवि ने धार्मिक संकीर्णता एवं साम्प्रदायिक वैमनस्य की तीक्ष्ण-कटु शब्दों में विगर्हणा करते हुए साम्प्रदायिक ऐक्य बनाये रखने पर बल दिया है । कवि ने हरिजनों के मन्दिर प्रवेश के निषेध पर अपनी खिन्नता व्यक्त करते हुए कहते हैं --

" आज दीनता को प्रभु की पूजा का भी अधिकार नहीं,
देव ! बना था क्या दुखियों के लिए निठुर संसार नहीं ।"

1· रेणुका - दिनकर - पृ· 18·

भक्ति का अधिकारी केवल द्विजों को ही न मानते हुए तथा प्राचीन शास्त्रों के मतों का खण्डन करते हुए वे कहते हैं -- " भक्ति और उज्ज्वल चरित्र पर केवल द्विज जातियों का अधिकार नहीं है और न ही यह मानना ठीक है कि सच्चा धर्म वही है जो हजार, दो हजार या पाँच हजार वर्ष पहले आख्यात हुआ था ।"

मन्दिर, मस्जिद, तीर्थ-व्रत, बाह्याडम्बर तथा पण्डे पुरोहित आदि को बाह्याडम्बर को प्रश्रय देनेवाले मानते हुए दिनकर जी ने सभी धर्मों को मूल रूप से एक मानकर अपने उदार दृष्टिकोण का परिचय दिया है -- " पूजा और अनुसंधान की विधियाँ धर्म के बाहरी रूप हैं । मन्दिर, मस्जिद, तीर्थ-व्रत और पण्डे-पुरोहित की प्रथा ये सब धर्म के ढकोसले हैं । सच पूछो तो सभी धर्म एक है । केवल पूजा-विधियों को छोड़ दो और सभी धर्मों को एक हो जाने दो । सभी धर्म एक हैं । एक से अधिक वे हो ही नहीं सकते ।"

भारतीय धर्म-भावना के अनुसार ईश्वर सर्व व्यापक है । सभी लोगों, सम्पूर्ण प्रकृति, समस्त चराचर जगत् में उसका अस्तित्व है । दिनकर जी को भी ईश्वर के सर्व व्यापकत्व में अटूट आस्था है । उन्हें विश्व के कण-कण में प्रकृति के समस्त क्रिया व्यापारों में अपना इष्ट की सत्ता का आभास होता है । मेघों में चमकने वाली विद्युत में उन्हें ईश्वर के हास, पुष्पों की सुरभि में उसके निवास एवं जाज्वल्यमान नक्षत्र-मंडल में चरणों की दीप्ति के दर्शन होते हैं । तथा यह संपूर्ण जगत् ईश्वर के आलोक से आलोकित होता हुआ दृष्टिगत होता है ।

भारतोय धर्म-शास्त्रों को मान्यता के अनुसार ब्रह्म ने एकोऽहम् बहुस्याम् " को भावना से अभिभूत होकर स्वयं को विभिन्न रूपों में व्यक्त किया और इस प्रकार इस चराचर सृष्टि का सृजन हुआ । इसलिए सृष्टि के प्रत्येक तत्व में, प्रत्येक पदार्थ में, जगत के सभी प्राणियों में ब्रह्म का अस्तित्व विद्यमान है । कवि भी उक्त धारणा का प्रबल समर्थक हैं । उसके अनुसार ब्राह्म की ही इच्छा का परिणाम पृथ्वी, पाताल और आकाश है । अनेकानेक गृह-नक्षत्र उसके क्रीडा-कन्दुक के समान निस्सार ब्रह्माण्ड का परिभ्रमण करते रहते हैं । वही ब्रह्मा नर-नारी में निवास करता हुआ उन्हें परस्पर प्रेम प्रेमाकृष्ट करता रहता है । समुद्र का जल और वन की हरीतिमा उसी ब्रह्मा के सूक्ष्म आवरण हैं - कवि मानव मात्र में ईश्वर का झलक देखता है --

> सभी मनुष्य एक ही मनुष्य है
> सबके साथ है आलिंगन में खड़ा हूँ ।"[1]

इतना ही नहीं, अपने और ईश्वर के मधुपूर्ण एकत्व की स्थापना करते हुए वह कहता है --

> द्वैता द्वैत से परे
>   मेरी यह विनम्र टेक है,
> प्रभो, मै और तुम
>   दोनों एक हैं ।"[2]

1· हारे को हरिनाम - दिनकर - पृ· 51, 145·

2· रश्मिरथी - दिनकर - पृ· 37·

विवेकानन्द और तिलक जो इस बात से चिन्तित थे कि धर्म कहीं भारतवासियों को निष्क्रिय न बना डाले । अतएव उन्होंने बार-बार यह बतलाने की चेष्टा की कि हिन्दुत्व निवृत्तिवादी नहीं है, न धर्म सांसारिक कर्मों का विरोधी ही होता है । यह चिन्ता दिनकर में भी है ।

हिन्दू धर्म के अनुसार मनुष्य को अपने कर्मानुसार अच्छा-बुरा फल भोगना पड़ता है । दिनकर जी भी अपने काव्य के माध्यम से उक्त मान्यता की पुष्टि यों करते हैं --

लेन-देन का हिसाब
लम्बा और पुराना है ।
जिनका कर्ज हमने खाया था
उनका बाकी हम चुकाने आये हैं
और जिन्होंने हमारा कर्ज खाया था,
उनसे हम अपना हक पाने आये हैं । "[1]

दिनकर की यह निश्चित मान्यता है कि धर्म चारित्रिक उन्नयन का नाम है । धर्म भाव एवं कर्म की पावनता का पर्याय है । उन्होंने धर्म-सम्मत आचरण एवं कर्म के बिना केवल आध्यात्मिक विचारों की निस्सारता सिद्ध करते हुए कहा --

... और धर्म का जन्म हमारे आत्मा वाले धरातल पर होता है । किन्तु धर्म विजय की आत्मा के धरातल से उतरकर जैव धरातल पर आने में है । ..... धर्म आत्मा के कोठे और आचरण पशुओं के समान,

---

1. हारे को हरिनाम - दिनकर - पृ. 40.

यह अच्छे मनुष्य का लक्षण नहीं है, उसके धर्म का मूल आध्यात्म में, किन्तु उसको (धर्म को) अभिव्यक्ति दैनिक आचरणों को पवित्रता में होनी चाहिए।"[1]

<u>संस्कृति</u> :

संस्कृति से तात्पर्य आत्म-परिष्कार, आत्म विस्तार एवं उदात्त गुणों से है जिनमें तपश्चर्या, संयम, शान्ति, मैत्री भावना, वसुधैव कुटुम्बकम् को अवधारणा, अपरिग्रह, मानवतावादी दृष्टिकोण, धर्म, नैतिकता, कर्मवाद, पुनर्जन्म, योग, त्याग, करुणा, क्षमा आदि आते हैं। ज्ञान-प्रसार, हृदय और बुद्धि का समन्वय इसके साधन है। इस क्षेत्र में व्यापक दृष्टिकोण रखने के कारण ही भारत विश्वगुरु रहा और स्वर्ण देश भी। इस प्रकार सभ्यता बाह्य शरीर साधन, सुखार्जन, स्वार्थ साधन, भोगवाद, परपीड़न एवं संकुचित मनोवृत्ति का प्रकाशन है और संस्कृति सर्वजनहिताय। योगवाद, परमार्थ साधन, आत्म विश्वास, परपीड़न एवं संकुचित मनोवृत्ति का प्रकाशन है और संस्कृति सर्वजनहिताय। योगवाद, परमार्थ साधन, आत्म विश्वास, सर्वात्मवाद, कष्ट साध्य जीवन और विश्व बन्धुत्व को भावना का दिग्दर्शन है। सभ्यता शरीर है तो संस्कृति आत्मा।

हमारी संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता है अवतारवाद या पुनर्जन्म की कल्पना। इसके अनुसार जब-जब हमारी संस्कृति का ह्रास हुआ है, तब-तब कोई महापुरुष आसुरी वृत्तियों के विनाश, दैवी गुणों के विकास के लिए अवतरित हो गया है। यथा --

---

1. वेणुवन - दिनकर - पृ. 13.

यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय चदुष्कृताम् ।
धर्मम् संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे ।

इसी प्रकार कर्मवाद पर आस्था, सहिष्णुता, समन्वयवादिता आदि हमारे संस्कृति के उदात्त गुण है । संस्कृति को काव्य में चित्रित करने के सम्बन्धी दिनकर जी के विचार दृष्टव्य हैं --

" मेरी कविता के भीतर जो अनुभूतियाँ उतरी, वे विशाल भारतीय जनता की अनुभूतियाँ थी, वे उस काल की अनुभूतियाँ थी, जिनकी अंक में बैठकर मैं रचनाकार रहा था । कवि होने की सामर्थ्य शायद मुझमें न थी -- यह क्षमता मुझमें भारत का ध्यान करने से जागृत हुई, यह शक्ति मुझमें भारतीय जनता की आकुलता को आत्मसात करने से स्फुरित हुई ।" [1]

स्वामी विवेकानन्द धर्म और संस्कृति के नेता थे । स्वामीजी ने अपनी वाणी और कर्तृत्व से भारत वासियों में यह अभिमान जगाया कि हम अत्यन्त प्राचीन सभ्यता के उत्तराधिकारी हैं, हमारे धार्मिक ग्रन्थ संसार में सबसे उन्नत और हमारा इतिहास सबसे महान् हैं । हमारा धर्म ऐसा है जो विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरता है और जो विश्व के सभी धर्मों का सार हुआ भी उन सबसे अधिक है । स्वामीजी की वाणी से हिन्दुओं का यह विश्वास उत्पन्न हुआ कि उन्हें किसी के भी सामने मस्तक झुकाने अथवा लज्जित होने की आवश्यकता नहीं है । भारत में संस्कृति राष्ट्रीयता पहले उत्पन्न हुए राजनैतिक राष्ट्रीयता बाद को जन्मी है और सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के पिता स्वामी विवेकानन्द थे ।

---

1. चक्रपाल - भूमिका - ग

दिनकर जी आधुनिक युग के सांस्कृतिक पुनरुत्थानवादी नेताओं में विशेष रूप से स्वामी विवेकानन्द से प्रभावित थे। दिनकर राष्ट्रीय सांस्कृतिक जागरण के कवि हैं। भारतीयता उनमें रोम रोम में समायी है। अपने काव्यों में वे संस्कृति को याद करते दिखाई पड़ते हैं, जिनमें आत्म गौरव, वीरों का गायन, वैभव और समृद्धि चित्रण आदि प्रमुख है। " उर्वशी " में वे देव और दैत्य संस्कृतियों का गायन करते हैं किन्तु प्रतिष्ठा धरती को ही देते हैं। जिसमें अपनी आर्य धीरता ही प्रकाशित हुई है। " कुरुक्षेत्र " में वे युद्ध की जड़ पर विचार करते समय याद दिलाते हैं, मानव पहले इतना संकुचित न था और इसलिए न किसी राज्य की आवश्यकता थी न शासन की। ज्यों-ज्यों मानव संकुचित होता गया, त्यों-त्यों नियामकों की आवश्यकता हुई, प्रतिबन्ध बढ़े और जगत् को युद्ध भूमि बनना पड़ा। " रश्मिरथी " में सांस्कृतिक गायन द्वारा ही तात्कालिक समाजधर्म, जीवन व्यवस्था आदि का चित्रण दृष्टिगत होते हैं। " परशुराम की प्रतीक्षा " में वह देश एवं चीन को चेतावनी देते हैं कि इस भूमि पर कदम न रखना वरन् परशुराम अवतार हो जायेगा जो समस्त आसुरी वृत्तियों का विनाश कर देगा।

राष्ट्रीय संस्कृति की भव्यता के दर्शन दिनकर जी के अतीत गान में होते हैं। विशेषतया अतीत-गान के अन्तर्गत उन्होंने अपने देश की उज्जवल परम्परा एवं गौरवमय इतिहास का दर्शन कराया है। अपने पूर्व पुरूषों की वीरता, त्याग, शील आदि के वर्णन द्वारा कवि ने देश की श्रेष्ठ संस्कृति की एक झलक प्रस्तुत की है।

भारत का वैदिकयुग प्रवृत्ति का युग था । उपनिषद् काल में सर्वप्रथम निवृत्ति की भावना उभर कर सामने आयी । बौद्ध तथा जैन धर्मों ने तो निवृत्ति को इतना अधिक महत्व दिया कि भारतीय समाज में सांसारिक प्रवृत्ति को हीन दृष्टि से देखा जाने लगा । परलोक के समक्ष लोक की तथा सन्यास के समक्ष गार्हस्थ एवं कर्मण्यता को महत्ता अतीत एवं तुच्छ जान पड़ने लगी । इस निवृत्तिमूलक विचारधारा के अनेक दुष्परिणाम भारत को भुगतने पड़े। लेकिन उन्नीसवी सदी में जो सांस्कृतिक नवोत्थान हुआ । उससे भारतीयों को आँखे खुल गयी और वे स्पष्ट देखने लगे कि सम्पूर्ण इतिहास में उनका सबसे बड़ा दोष इस निवृत्ति की उपासना थी । आधुनिक युग के पुनरुत्थानवादी नेताओं, स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस, महर्षि अरविन्द, लोकमान्य तिलक ने निवृत्तिमूलक भावनाओं को कठोर वज्रपात करते हुए प्रवृत्ति की प्रतिष्ठा की । इस नवोत्थान के सभी नेताओं ने यह घोषणा की कि प्रवृत्ति का मार्ग जीवन पर विजय का मार्ग है एवं जो भी निवृत्ति की ओर जाता है वह वास्तव में पलायनवादी होकर, जीवन से भाग रहा है । वेदान्त को लोग सन्यास का पन्थ मानते आये थे । किन्तु स्वामी विवेकानन्द के मुख से वही वेदान्त घोर कर्मनिष्ठा का समर्थक बनकर उतरा तथा हिन्दुत्व का सारा दर्शन उनकी वाणी में प्रवृत्तिवादी हो उठा । दिनकर जी इन सभी महापुरुषों और विशेषरूप से लोकमान्य तिलक और स्वामी विवेकानन्द से अत्यधिक प्रभावित थे ।

स्वामी विवेकानन्द और तिलक समकालीन थे । किन्तु स्वामीजी प्रधानत: धर्म के मनुष्य थे । उनकी दृष्टि भारत के अधिभौतिक उत्थान पर थी और उन्होंने धर्म को यह कहकर ग्राह्य बनाना चाहा था कि धर्म अधि भौतिक उन्नति का बाधक नहीं है । स्वामीजी ने भगवान का भरोसा करने से अधिक वे मनुष्य के भीतर कर्मभावना को जगाना चाहते थे । उनका

उद्देश्य मनुष्य मनुष्य को समीप में लाकर विश्व मानव के जन्म को सम्भव बनाना था । अतएव विश्व मानवता को जो गुण उन्हें भासित हुए, उन्हें हिन्दुत्व में प्रतिष्ठित करने की प्रक्रिया से ही उन्होंने हिन्दुत्व का सुधार किया । किन्तु तिलकजी प्रधानत: समाज और राजनीति के पुरुष थे तथा विश्ववाद से उन्हें अधिक प्रेम नहीं था । वे हिन्दुओं की पतनशीलता से दु:खी थे । वे पराधीनता से क्षुब्ध थे ।

स्वामी विवेकानन्द और लोकमान्य तिलक ने वेदान्त और गीता की ही नयी व्याख्या करके यह प्रतिपादित किया है कि भारतीय वैदिक धर्म का मूल उपदेश निवृत्ति नहीं प्रवृत्ति है । वे प्रवृत्ति पर इतना अधिक जोर दिया कि सारा हिन्दू-दर्शन प्रवृत्ति के ही उत्स सा दीखने लगा और सन्यास से गार्हस्थ को श्रेष्ठ समझने में जो बाधा थी, वह आप-से-आप क्षीण होने लगी । जातियाँ जैसे दर्शनों में विश्वास करती हैं, उनके कर्म भी वैसे ही हो जाते हैं ।

स्वामीजी बार-बार कहा करते थे कि भारत का कल्याण शक्ति की साधना में है । जन-जन में जो शक्ति छिपी हुई है, हमें उसे साकार करना है । जन-जन में जो साहस और जो विवेक प्रच्छन्न है, हमें उसे बाहर लाना है ।"

दिनकर पर स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव पड़ा है । स्वामीजी के प्रति दिनकर में अटूट श्रद्धा-आस्था विद्यमान है । दिनकर भी निवृत्ति का खंडन और प्रवृत्ति का प्रतिपादन अपने साहित्य में किया है --

प्रवृत्ति - निवृत्ति

प्रवृत्ति एवं निवृत्ति की व्याख्या तथा निवृत्ति की आलोचना करते हुए दिनकर जी ने लिखा है -- प्रवृत्ति का अर्थ है सन्यास न लेकर मरण पर्यन्त चातुर्वर्ण्य विदित निष्काम कर्म करने जाना। इसके विपरीत निवृत्ति का मार्ग सन्यास का मार्ग है, कर्म त्याग का मार्ग है एवं निवृत्तिवश यह मानता है कि विश्व माया है। सारहीन है, यह पिछला दृष्टिकोण भारत का सबसे बड़ा शाप प्रमाणित हुआ और इसी दर्शन में आसक्त रहने के कारण भारत ने लोक की उपेक्षा कर दी।"

प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के मार्गों में भारतीय जीवन की श्रेय-यात्रा निश्चित होती रही है। प्रवृत्ति संसार में रहने का अभिलक्षित मार्ग है और निवृत्ति संसार को त्यागने के एकान्त वैराग्य का नाम है। प्राचीन काल में निवृत्ति मार्ग माना जाता था और सन्यास सर्वत्र समादृत होता था। नये युग के चिन्तकों ने निवृत्ति में भारतीय जीवन की विशृंखलता का तत्व देखा और प्रवृत्ति को जीवन के लिए सब प्रकार के श्रेयस्कर सिद्ध किया। संसार को त्याग कर आत्म विकास की चेष्टा करना उतना महत्त्वपूर्ण नही है जितना महत्त्वपूर्ण संसार में रहकर अपने जीवन और अपने आसपास के मनुष्यों के जीवन को ऊर्ध्वमुखी बनाना है। दिनकर की जीवन-निष्ठा भी प्रवृत्ति मार्ग है। वैराग्य को वे पलायन का पर्याय मानते हैं।

कवि कर्म की निरपेक्ष स्थिति को स्वीकार करते हुए कहता है कि कर्म अपने-आप में निरपेक्ष है। उसके शुभ-अशुभ का निर्णय कर्ता की भावना पर निर्भर करता है। वह अपने आप में न पाप है और न पुण्य। कर्म शुभ वही है जो शुभबुद्धि से किया जाय, चाहे वह युद्ध

हो क्यों न हो । यही कारण है कि बुध्दि में समरसता का समावेश कर लेने से व्यक्ति पाप और पुण्य से ऊँचा उठ जाता है । कवि ने " कुरुक्षेत्र " में भीष्म के माध्यम से यही भाव व्यक्त करवाकर युधिष्ठिर की युध्द विषयक जिज्ञासा का समाधान करने का प्रयत्न किया है --

है मृषा तेरे हृदय की जल्पना
युध्द करना पुण्य या दुष्पाप है,
क्योंकि कोई कर्म है ऐसा नहीं
जो स्वयं ही पुण्य हो या पाप हो ।
सत्य ही भगवान ने उस दिन कहा,
मुख्य है कर्ता हृदय की भावना
मुख्य है यह भाव, जीवन युध्द में
भिन्न हम कितना रहें निज कर्म से ।[1]

कवि की दृष्टि में कर्म अनिवार्य है । उसे हेय दृष्टि से नहीं देखा जा सकता लेकिन उसका सम्पादन बुध्दि से ही होना चाहिए । " कुरुक्षेत्र " में भीष्म ने युधिष्ठिर को जिस कर्म-योग का सन्देश दिया है उनमें लोक संग्रह की भावना विद्यमान है ।

भाग्यवाद का प्रतिवाद करते हुए वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि विश्व में मनुष्य को सुख-सुविधाओं की उपलब्धि उसके भाग्य के बल पर नहीं, उसकी भुजाओं की शक्ति के बल पर होती है । प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए भाग्य का मुखापेक्षी होना उचित नहीं है क्योंकि वह मनुष्य के भाग्य से भयभीत नहीं होती वरन् उसके परिश्रम और उद्यम से पराजित

---

1. कुरुक्षेत्र - दिनकर - पृ. 19 - 20.

होती है । वस्तुत: अकर्मण्य व्यक्ति ही नियति की दुहाई देते है । कर्मण्य व्यक्ति तो दुर्भाग्य के लेख को भी अपने पौरूष के बल जीत लेते है । कवि ने भाग्यवाद को पाप के आवरण, शोषण के शस्त्र, दुर्बल व्यक्तियों के अधिकारों के हनन के कुत्सित साधन की संज्ञा दी है --

भाग्यवाद आवरण पाप का
और शस्त्र शोषण का
जिससे रखता दबा एक दिन
भाग दूसरे जन का ।[1]

" रश्मिरथी " का कर्ण जिन-निर्भ्रान्त सशक्त शब्दों में भाग्यवाद का खण्डन करते हुए कर्मवाद का मण्डन करता है उनमें निस्संदेह कवि के कर्मवादी जीवन दर्शन का सारतत्व पूर्णत: समाहित हो गया है ।

विधि ने था क्या लिखा भाग्य में, खूब जानता हूँ मै
बाँहों को पर कहीं भाग्य से बली मानता हूँ मैं ।

महाराज उद्यम से विधि का अंक उलट जाता है
किस्मत का पासा पौरूष से हार पलट जाता है ।[2]

इसी प्रकार कवि दिनकर ने प्रवृत्ति और निवृत्ति दो मार्गों में से प्रवृत्ति को ही मानव-जीवन के लिए श्रेयस्कर स्वीकार किया है और कर्म के साथ मानव का अविच्छिन्न संबंध बतलाते हुए मानव-जीवन में उसकी उपयोगिता पर प्रकाश डाला है ।

1• कुरुक्षेत्र - दिनकर - पृ• 60 - 61•

2• रश्मिरथी - दिनकर - पृ• 51•

3·1·4· मानवतावाद :-

मानवता से तात्पर्य यह है कि मानव समस्त योनियों में विवेकशील, बुध्दिवान् और श्रेष्ठप्राणी माना जाता है अत: उसका धर्म है कि वह सृष्टि के अन्य प्राणी वर्ग के प्रति त्याग, दया, ममता, सहिष्णुता, समन्वय, क्षमा एवं कोमलता आदि उदात्त गुणों के द्वारा आत्मा का सा व्यवहार करे, उन्हें समुचित विकास करने में योग दें, किन्तु वह अहंवादी अपने को ही नियामक समझकर ईश्वर और प्रकृति तक से संघर्ष करने लगता है परिणामत: संघर्ष होता है और यह जगत् युध्द स्थल बन जाता है, दानवता अट्टहास करती है जबकि मानव का विकास इससे होता नहीं, भूलवश वह यह सब करता है कारण कि

> अपने में भर सब कुछ कैसे व्यक्ति विकास करेगा ?
> यह एकान्त स्वार्थ भीषण है अपना नाश करेगा ।[1]

उपनिषदों का उपदेश है कि सभी आत्माएँ एक हैं, क्योंकि वे सब-की-सब एक ही पर ब्रह्म के असंख्य प्रतिबिम्ब मात्र हैं । इस सिध्दान्त से स्वामी विवेकानन्द ने यह निष्कर्ष निकाला कि जिसे परब्रह्म कहते हैं वह सभी जीवों के योग से अधिक नहीं है । अतएवं सच्ची ईशोपासना यह है कि हम अपने मानव-बन्धुओं की सेवा में अपने आपको लगा दें । जब पड़ोसी भूखा मरता हो, तब मन्दिर में भोग चढ़ाना पुण्य नहीं पाप है ।

1· कामयनी - प्रसाद

विवेकानन्द कहते थे कि -- " वास्तविक शिव की पूजा निर्धन और दरिद्र की पूजा है, रोगी और कमजोर की पूजा है ।" निर्धनता, पुरोहितवाद और धार्मिक अत्याचार सिखानेवाले दर्शनों के स्वामीजी प्रचण्ड विरोधी थे । इसी प्रकार धनियों के प्रति भी उनमें आदर का भाव नहीं था ।

स्वामीजी कहते हैं कि सबसे पहले पूजा विराट् की होनी चाहिये, उन असंख्य मानवों की, जो तुम्हारे चारों ओर फैले हुए हैं । संसार में जितने भी मनुष्य और जीव जन्तु हैं सभी परमात्मा है सभी परब्रह्म के रूप है और इनमें भी सर्वप्रथम अपने देशवासियों की पूजा करनी चाहिए ।

दिनकर जी के काव्य में भी मानवतावादी स्वर आद्यंत मुखर रहा है । दिनकर जी का मानव तथा मानव जगत की समस्याओं को देखने का दृष्टिकोण सर्वत्र मानवीय है । " कुरुक्षेत्र " में कवि की आशावादी कर्ममय जीवन के प्रति आस्था निरन्तर विद्यमान रही है । " रेणुका " में ही कवि समाज में पारस्परिक स्नेह, धार्मिक ऐक्य तथा पर्याप्त सुख-समृद्धि की मंगल-कामना व्यक्त करते हुए कहता है --

" जन समाज सन्तुष्ट रहे हिल-मिल आपस में प्रेम बढ़ाकर
धर्म-भिन्नता हो न, सभी जन शैली तटी में हिल-मिल जायें ।
उषा के स्वर्णिम प्रकाश में भावुक भक्ति-मुग्ध मन गायें ।[1]

---

1. रेणुका - पृ. 35.

दो महायुद्दों को विभीषिकाओं तथा भीषण विनाश को देखकर कवि का मन वेदना से भर उठता है । " कुरुक्षेत्र " और " रश्मिरथी " के भीष्म की उक्तियों तथा कुरुक्षेत्र के युधिष्ठिर के आत्मपरिताप में कवि के हृदय की यह विषण्णता मुखरित है । कवि विश्व से युद्दों का पूर्णतः निराकरण कर ऐसे संसार का आदर्श उपस्थित करता है, जिसमें मानव-हृदय से ईर्ष्या-विद्वेष, पारस्परिक संत्रास तथा कुत्सित स्वार्थ, की कलुषित भावनाओं का परिहार हो जाये । मानवता हिंसा और युद्द के भीषण अभिशाप से मुक्त होकर साम्य और सुख सन्तोष को प्राप्त करे --

नर जहाँ राग से होकर रहित विचरता
मानव, मानव से नहीं परस्पर डरता ।
वहाँ लोक जहाँ शोणित का ताप नहीं है ।
नर के सिर पर राग का अभिशाप नहीं है ।
जीवन समता की छाँह तले पलता है
घर घर पीयूष-प्रदीप जहाँ जलता है ।[1]

" मगध महिमा " में अपने मानवतावादी विचार कुरुक्षेत्र की तरह ही व्यक्त करते है --

छिन्न भिन्न है देश, शक्ति भारत की बिखर गई है --
हम तो केवल चाह रहे हैं, उसको एक बनाना
मृदु विवेक से, बुद्दि-विनय से, स्नेह मयी वाणी से
अगर नहीं, तो धनुष-बाण में, पौरुष से, बल से भी ।[2]

1· कुरुक्षेत्र - दिनकर - पृ· 60·
2· दिनकर की काव्य भाषा - पृ· 98·

दिनकर की मानवता की स्थापना हेतु एक ओर यदि दया, विनय, प्रेम, विवेक से कामलेना चाहते हैं तो बल, पौरूष एवं पराक्रम को भी दूसरी ओर उतना ही महत्व देते हैं ।

संसार विश्व बन्धुत्व की भावनाओं से आबद्द होगा । सभी राष्ट्र अपनी-अपनी सभ्यता । संस्कृति तथा स्वतंत्रता को आक्षुण्ण रखते हुए पारस्परिक ऐक्य की भावनाओं से अनुप्रेरित होकर विश्व के एक ही झंडे के नीचे एकत्र हो जायेंगे ।

"दीखेगा विश्ववाद का नारा
एकता अनेकता में अपने को खोजेगी ।
रंग बिरंगे छोटे-छोटे देश
बोलते हुए अपनी-अपनी भाषाएँ
पहने हुए अपने-अपने वेश,
एक ही महफिल में बैठेंगे होकर स्वाधीन
कोई नहीं किसी की भी के अधीन ।"[1]

निष्कर्ष :

निष्कर्ष में यह कह सकते हैं कि विवेकानन्द से प्रभावित कवि काव्य मानव मात्र की मंगल-कामना करूणा, क्षमा, विश्व-प्रेम, विश्व-बन्धुत्व और विश्व-शान्ति जैसे उच्चतर जीवन मूल्यों से अनुप्राणित मानतावादी जीवन-दर्शन का महोच्चार है । विवेकानन्द की तरह दिनकर जी ने भी प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्गों में प्रवृत्ति को ही मानव जीवन के लिए श्रेयस्कर स्वीकार किया है और कर्म के साथ मानव का अविच्छिन्न संबंध बतलाते हुए मानव जीवन में उसकी उपयोगिता पर प्रकाश डाला है ।

---

1. दिनकर के काव्य में जीवन दर्शन - डॉ॰विनोदबाला शर्मा
   (आत्मा की आँखें - दिनकर - पृ॰ 71 - 72॰) - पृ॰ 123॰

3.2. लोकमान्य तिलक और दिनकर :-

प्रत्येक कवि का काव्य सहज ही उसके जीवन-दर्शन से अनुप्राणित होता है। वह अपनी तत्वान्वेषणी प्रज्ञा, प्रखर मेधा, मननशील प्रवृत्ति और प्रगाढ़ चिंतन शक्ति के फलस्वरूप जीवन तथा जगत विषयक विविध समस्याओं एवं प्रश्नों पर विचार करता है। उन प्रश्नों की अतल गहराई में अवगाहन कर अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि के द्वारा समुचित समाधान खोजने का प्रयास करता है। ये ही समाधान काव्य में अभिव्यक्त होकर कवि का जीवन-दर्शन अथवा जीवन-मूल्य कहलाते हैं।

दिनकर जी काव्य-रचना के प्रारम्भ से ही जीवन और जगत् की शाश्वत समस्याओं के समाधान का संधान करने में चेष्टारत दृष्टिगत होते हैं। उन्होंने कहीं भी केवल शास्त्र-सम्मत दार्शनिक मान्यताओं से संपुष्ट समाधान प्रस्तुत नहीं किये हैं। उन्होंने जीवन की यथार्थताओं तथा अनुभवों के परिप्रेक्ष्य में ही युगानुकूल जीवन-दर्शन की प्रतिष्ठा की है।

3.2.1. कर्म मार्ग :-

कवि दिनकर का दर्शन जीवन के कर्म-मार्ग का दर्शन है परन्तु इनका कर्म मार्ग प्रसाद द्वारा वर्णित कर्म-लोक के जीवन सा नहीं है। अंधाधुंध कर्म का कोई महत्व नहीं। जो मानव अपने कर्म को अच्छी तरह से नहीं पहचानता, वह अपनी शक्ति का उपयोग भी अच्छी तरह से नहीं कर सकता। इसलिए मानव के लिए उसके कर्म की पवित्रता आवश्यक है। तभी मानव अपनी शक्ति का सही उपयोग कर सकता है।

दिनकर पर श्रीमद भागवत का प्रभाव बहुत पड़ा है। परन्तु यह प्रभाव प्रत्यक्ष न पड़कर श्री लोकमान्य तिलक के माध्यम से पड़ा है। तिलक के प्रति दिनकर में अटूट श्रद्दा-आस्था विद्यमान है। वे उनके कर्मयोग का समर्थन तथा प्रशंसा करते हैं। "संस्कृति के चार अध्याय" में उन्होंने कहा भी है - हमारा मत है कि गीता एक बार तो भगवान कृष्ण से कही गई, किन्तु दूसरी बार उसका सच्चा आख्यान लोकमान्य ने ही किया है। इन दोनों के बीच की अन्य सारी टीकाएँ और व्याख्याएँ "गीता" के सत्य पर बादल बन कर छाती रही है। तिलक के कर्मयोग का समर्थन और इससे स्पष्ट शब्दों में क्या हो सकता है? गीता में कर्म की अनिवार्यता स्वीकार की गई है --

नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृति जै र्गुणैः :
-- गीता 315

सृष्टि के प्रारम्भ से ही भारतीय कर्म की महत्ता स्वीकार करते चले आ रहे हैं। इस कर्म की बदौलत ही उसके जीवन में अकर्मण्यता नहीं आने पाई है। कवि दिनकर ने कर्म की न केवल स्वीकार की है बल्कि उसे जीवन के लिए अनिवार्य भी बतलाया है --

कर्मभूमि है निखिल महीतल
जब तक नर की काया
तब तक है जीवन के अणु अणु में
कर्त्तव्य समाया।

मानव इसके बिना इस धराधाम पर जीवन्त नहीं रह सकता । लेकिन इसका अर्थ कदापि नहीं कि मानव जीवन में अन्धा धुन्ध कर्म करते जाय । मानव कर्म को अच्छी तरह जाने पहचाने बिना अपनी शक्ति का अपयोग अच्छी तरह से नहीं कर सकता । कवि की दृष्टि में मनुष्य समाज को केवल एक ही भाग्य है और वह है उसकी कर्मशीलता । मनुष्य की कर्मशीलता के समक्ष आकाश भी विनत हो जाता है ।

नर-समाज का भाग्य एक है
वह श्रम, वह भुज बल है
जिसके सम्मुख झुकी हुई
पृथ्वी, विनीत नभ-तल है ।

" कुरुक्षेत्र " में कवि परम्परित भारतीय दर्शनों की अपेक्षा कर्म दर्शन को ही विशेष महत्व देता है ।

बुला रहा निष्काम कर्म वह
बुला रही है गीता
बुला रही है तुम्हें आर्त ही
मही समर संभीता ।

" कुरुक्षेत्र " को सबसे अधिक प्रभावित करनेवाला साधन, तिलक द्वारा उद्घाटित " गीता " का वह रहस्य है जिसे गीता-रहस्य अथवा कर्मयोग शास्त्र नामक ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत किया गया है । " गीता " और " कुरुक्षेत्र " में एक साम्य अवश्य दृष्टिगोचर होता है । " गीता " में अर्जुन को स्वजन संहार से मोह उत्पन्न हुआ । श्रीकृष्ण ने उसे मोह का निराकरणार्थ अर्जुन को उपदेश दिया । " कुरुक्षेत्र " के युधिष्ठर का मोह भी कुछ इसी प्रकार का मोह है । यहाँ भीष्म को श्रीकृष्ण का स्थानापन्न बनकर युधिष्ठर को उपदेश देना पड़ता है ।

3·2·2· प्रवृत्ति-निवृत्ति :-

तिलक ने गीता को कर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन ग्रन्थ ही माना है तथा अन्य भाष्यकारों द्वारा गीता को निवृत्ति परक ग्रन्थ बताये जाने का सतर्क खंडन किया है । सन्यास और कर्मयोग दोनों मार्ग नि:श्रेयस अर्थात् मोक्षदायक है अथवा मोक्ष दृष्टि से एक सी योग्यता है तो भी दोनों में कर्मयोग की श्रेष्ठता, विशेष है, तिलक ने कर्मयोग की स्थापना के साथ ही साथ तत्कालीन भारत के राजनीतिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए युद्ध पर भी बल दिया है --

दिनकर जी के मानस पर तिलक की उक्त स्थापना का गम्भीर प्रभाव पड़ा । कुरूक्षेत्र के सप्तम सर्ग में कवि ने निवृत्ति और प्रवृत्ति मार्गों का वर्णन करते हुए निवृत्ति का सशक्त शब्दों में घोर खण्डन एवं प्रवृत्ति का प्रतिपादन किया है ।

एक पंथ है, छोड जगत को
अपने में रम जाओ
खोजो अपनी मुक्ति और
निज को ही सुख बनाओ ।
अपने पंथ है, औरों को भी
निज विवेक-बल दे कर
पहुँचो स्वर्ग-लोक में जग से
साथ बहुत को लेकर ।

कवि ने इस प्रवृत्ति मार्ग के द्वारा कर्मयोग की ओर संकेत किया है और निवृत्ति मार्ग के माध्यम से सन्यास पर प्रकाश डाला है ।

जनाकीर्ण जग से व्याकुल हो
निकल भागना वनों में
धर्म राज है घोर पराजय
नर की जीवन रण में
यह निवृत्ति है ग्लानि, पलायन
का यह कुत्सित क्रम है
निःश्रेयस यह श्रमित, पराजित
विजित बुद्धि का भ्रम है ।

दिनकर जी निवृत्ति के स्थान पर प्रवृत्ति एवं अकर्मण्यता के स्थान पर गीता की निष्काम कर्म भावना का सम्पादन करते हुए कहते हैं कि केवल निवृत्ति ग्रहण कर कल्पना लोक में विचरण करते रहने से ही मनुष्य को कोई महती उपलब्धि नहीं हो सकती । जीवन की सार्थकता तो सम्यक् विधि से जीवन जीने में ही है । अतः मनुष्य को चाहिए कि वह जगत् में इस विस्तीर्ण कर्म-क्षेत्र में निष्काम भाव से अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करते रहे --

मिट्टी का यह भार सँभालो
बन कर्मठ सन्यासी
पा सकता कुछ नहीं मनुज
बन केवल व्योम प्रवासी ।

दिनकर की कल्पना का समाज वह समाज है जिसमें मनुष्य जीवन में लिप्त रहकर निवृत्तिमूलक त्याग और निष्काम कर्म की भावना से सर्वथा असंपृक्त न होंगे । उन्होंने जीवन में प्रवृत्ति और निवृत्ति के समन्वय पर बल दिया है । कवि ने भोगों की अनिवारिदता से मुक्त इसी प्रवृत्तिमूलक जीवन दर्शन का प्रतिपादन " कुरुक्षेत्र ", " उर्वशी " में किया है ।

भोगो तुम इस भाँति मृति को
दाग नहीं लग पाये
मिट्टी में तुम नहीं वही
तुम में विलीन हो जाये ।[1]

नि:श्रेयस अर्थात् मोक्षदायक हैं अथवा मोक्ष दृष्टि से एक सी योग्यता है तो भी दोनों में कर्मयोग की श्रेष्ठता विशेष है । तिलक ने कर्मयोग की स्थापना के साथ ही साथ तत्कालीन भारत के राजनीतिक क्षेत्र में स्वतंन्त्रता प्राप्ति के लिए युद्ध पर भी बल दिया है ।

तिलक ने यह भी कहा है कि कोई भी कर्म अपने आप में न पाप है और न पुण्य, वह तो कर्त्ता की भावना पर निर्भर करता है । शुद्ध भावना से किया गया प्रत्येक कर्म पुण्य और अशुद्ध भावना से किया गया प्रत्येक कार्य पाप है । इसी बात को दिनकर जी ने भीष्म के मुख से कहल-वाया है और युधिष्ठिर की युद्ध विषयक जिज्ञासा का समाधान किया है --

है मृषा तेरे हृदय की कल्पना
यद्ध करना पुण्य या दुष्पाप है
क्योंकि कोई कर्म है ऐसा नहीं
जो स्वयं ही पुण्य हो या पाप हो

---

1. कुरुक्षेत्र - दिनकर - पृ. 120.

सत्य ही भगवान ने उस दिन कहा
मुख्य है कर्त्ता हृदय की भावना
मुख्य है यह भाव जीवन युद्ध में
भिन्न हम कितना रहे निज कर्म में ।

कवि की दृष्टि में कर्म अनिवार्य है, उसे हेय दृष्टि से नहीं देखा जा सकता लेकिन उसका सम्पादन बुध्दि से ही होना चाहिए ।

तिलक के अनुसार सत्य, अहिंसा आदि गुण ग्राह्य है परन्तु इनका उपयोग कहाँ तक किया जा सकता है, विशेष रूप से उस समय जब किसी दुष्ट मनुष्य से पाला पड़ जाए । ऐसे अवसर पर तो " शठे शाठ्यं समाचरेत " के अनुसार ही आचरण करना चाहिए । दिनकर जी भी तिलक के विचार से सहमत थे । वे तो यहाँ तक कहते हैं कि --

छीनता हो स्वत्व कोई और तू
त्याग तप से काम ले, यह पाप है
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे
बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है ।

तिलक यह मानते थे कि व्यक्ति के समक्ष कार्य करते समय यह विचार अवश्य रहना चाहिए कि उसके कृत्य का समाज पर क्या प्रभाव पड़ेगा । यदि यह प्रभाव उत्तम है तो कर्म भी उत्तम है और यदि प्रभाव अधम है तो कर्म भी अधम है । तिलक के दर्शन का दूसरा तत्व " सर्व भूत हित " है । यह तत्व उन्होंने भारतीय संस्कृति से लिया है --

" सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया :"

उनके दर्शन का तीसरा तत्व मोक्ष है । यही उनके दर्शन की वह विशेषता है जो उन्हें भौतिकवादियों से पृथक करती है । " कुरुक्षेत्र " की विचार-भूमि पर तिलक के उक्त विचारों का नितान्त गम्भीर प्रभाव पड़ा है । कहीं-कहीं तो यह प्रभाव इतना स्पष्ट है कि इसे पहचानने में मानसिक परिश्रम की आवश्यकता नहीं पड़ती । यदि यह कहा जाय कि " कुरुक्षेत्र " की भूमि में तिलक दर्शन के बीज बोये गये हैं और वे बीज यत्र-तत्र लहराते हुए स्पष्ट गोचार होते है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी ।

निष्कर्ष में हम यह कह सकते हैं कि दिनकर के काव्य की विचार भूमि पर तिलक के उक्त विचारों का नितान्त गम्भीर प्रभाव पड़ा । कहीं-कहीं तो यह प्रभाव इतना स्पष्ट है कि इसे पहचानने में मानसिक परिश्रम की आवश्यकता नहीं पड़ती । यदि हम कह जाय कि दिनकर के काव्य की भूमि में तिलक दर्शन के बीज बोये गये हैं और वे बीज यत्र-तत्र लहराते हुए स्पष्ट गोचर होते हैं । इसी प्रकार यह निश्चिंत रूप से कहा जा सकता है कि दिनकर जी का काव्य कर्मवाद जीवनदर्शन से आधांत अनुप्राणित है ।

3·3· अरविन्द और दिनकर :-

अरविन्द आधुनिक काल के एक राजनीतिज्ञ व देशभक्त होने के साथ-साथ एक महाकवि भी थे । यद्यपि अरविन्द गाँधी के समान समाज सुधारक नहीं वरन् एक विचारक थे, दार्शनिक थे, जिनकी दृष्टि में समूचे विश्व का सूक्ष्म जीवन समाया रहता था ।

श्री रामधारी सिंह दिनकर ने कहा है " श्री अरविन्द के व्यक्तित्व में योगी, कवि और दार्शनिक तीनों का समन्वय था और वे सब-के-सब एक ही लक्ष्य की ओर गतिशील थे, इसलिए श्री अरविन्द का ध्यान करते समय ऐसा भासित होता है मानो हम मानवता के महासूर्य को देख रहे हों ।"

अरविन्द ने सृष्टि विकास के क्रम में मानव को सृष्टि का सर्वोत्कृष्ट विकास माना है । उनके अनुसार मनुष्य स्वयं एक विचारशील जीवन प्रयोगशाला है । अरविन्द का मार्ग सन्यास और भौतिकता का मध्यवर्ती मार्ग है । अरविन्द यह मानते है कि ब्रह्म, प्रकृति और जीवात्मा एक ही सत्ता की विभिन्न अवस्थाएं हैं । जब जीवात्मा (अविद्या) के प्रभाव में होती है तो वह द्वैत की स्थिति में रहती है किन्तु जब मन निम्न माया से उठकर उर्ध्व चेतना की अनुभूति की अवस्था में (उच्च माया विद्या) प्रविष्ट होता है तो वहा जीव, जगत और ब्रह्म में द्वैत नहीं दिखाई देता ।

अरविन्द दर्शन वास्तव में समन्वय का दर्शन है जिसके अन्तर्गत परमसत्ता को असीम और निरपेक्ष माना गया है -- There is then a Supreme reality eternal absolute and infinite. Because it is absolute and infinite, it is in its essence in determind, it is indefinable and inconceivable by finite and defining mind. it is described neither by our Negations Neti Neti or by our affirmative iti iti.

अरविन्द दर्शन के अन्तर्गत परमसत्ता में अद्वैतभाव स्वीकार किया गया है । इसके साथ ही जड़ और चेतना में भी एक ही परमसत्ता की अभिव्यक्ति मानी गयी है ।

श्री अरविन्द की योग सिद्धि एवं उनके तत्वदर्शन को महत्वपूर्ण उपलब्धि उनका अतिमानस का सिद्धांत है। अतिमानस के सिद्धांत द्वारा उन्होंने " एक नई चेतना का आविष्कार ही नहीं किया - एक नया विश्व का निर्माण भी किया। उनका कहना था कि अपनी चेतना के रूपांतरण एवं वैयक्तिक मुक्ति का तब तक कोई अर्थ नहीं है जब तक कि हमारे चारों ओर का जगत् दु:ख और अंधकार से आवृत है। इस दृष्टि से वे मध्ययुगीन आस्था, विचार प्रणाली एवं उस दर्शन के कटु आलोचक थे जिसने धरती के जीवन को निष्प्राण कर दिया है। मायावाद, शून्यवाद, पलायनवाद, सन्यासवाद निष्क्रियता आदि का पाठ पढ़ाया है। यदि ब्रह्म ही सब कुछ है। एकमात्र वही सत्य है तो यह जगत् और जगत जीवन ब्रह्म ही है। ब्रह्म का ही रूप, उसका निवर्तन है। अत: जड़वाद और आध्यात्मवाद एक दूसरे के विरोधी नहीं है पूरक है।

उनका समस्त दर्शन, समस्त योग उस ईश्वर प्रेमी का योग है जो ईश्वर की सृष्टि को निश्चेतन के अंधकार से अतिमानस के प्रकाश, अज्ञान से पूर्ण ज्ञान, दु:ख से आनन्द, मृत्यु से अमरता की ओर ले जाना चाहता है। वे जिस आनन्दवाद और आशावाद के स्वर से अपने दर्शन को युक्त कर देते हैं वह आज के विषण्ण जीवन में प्राण-संचार करेगा, इसमें संदेह नहीं है। इसी भाँति श्री अरविन्द का विकास तथा पूर्णयोग का सिद्धांत उनकी अपनी विशिष्ट देन है।

जिस प्रवृत्ति मार्ग का आख्यान तिलक और विवेकानन्द ने किया अरविन्द में भी उसका खंडन नहीं मिलता है। जड़वादी कहता है कि दृश्य के परे और कुछ नहीं है। इसलिए दृश्य जगत् के सुखों का खुलकर भोग करना ही श्रेयस्कर कार्य है। इसके विपरीत निवृत्ति मार्ग मानता है कि दृश्य

माया है, वह नश्वर और निस्सार है तथा सच्चे सुख का देश वह है जो मृत्यु के उपरान्त प्राप्त होता है । अतएव उचित यह है कि हम दृश्य के लोभ में न पड़े, तथा जीवन की जो आवश्यकताएँ छोडी जा सकती है, उन्हें छोड़ते ही चले जाय । अरविन्द दोनों की सार्थकता मानते हुए भी, मनुष्य को दोनों से आगे जाने का उपदेश देते हैं । सच्चिदानन्द सर्वत्र विद्यमान है । भेद केवल यह है कि निचले स्तर पर (जड तत्व में) वह सोया हुआ है, अचेतन तथा अवचेतन का आवरण लिये हुए हैं । किन्तु उसकी अवज्ञा भी सच्चिदानन्द का ही अवज्ञा है । जड़वादी और वैरागी, दोनों के मार्ग सीमित और अपूर्ण है । जड़वाद आत्मा के विरूद्ध भूत का विद्रोह है । इसी प्रकार निवृत्ति या वैराग्यवाद भूत के विरूद्ध आत्मा का विद्रोह कहा जा सकता है । सच तो यह है कि आत्मा का स्वतंत्र होकर फैलने का दावा उतना ही उचित है, जितना भूत या द्रव्य का यह आग्रह कि वह आत्मा की इस उड़ान का साँचा या आधार बनेगा ।

अरविन्द काव्य का मूल्यांकन करते हुए दिनकर ने लिखा है -- " यह कविता का सौभाग्य है कि श्री अरविन्द ने उसे अपनी अनुभूतियों का वाहन चुना और चूँकि मानव के अगले विकास की प्रक्रिया को तेज करने में उन्होंने काव्य की सत्ता को स्वीकार किया है । इसीलिये आशा की जानी चाहिए कि अगले युग में कविता एक बार फिर मानवात्मा की सबसे अधिक शक्ति शालिनी अभिव्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित होगी ।" -- इस कथन से स्पष्ट है कि दिनकर जी श्री अरविन्द के काव्य से अत्यधिक प्रभावित हुए ।

दिनकर जी की दृष्टि में अरविन्द काव्य का मूल सन्देश एक उच्च आध्यात्मिक संदेश है । उन्होंने लिखा है एक मान्यता रही है कि मनुष्य कविता के माध्यम से अपना विकास कर सकता है । किन्तु कविता को अरविन्द ने अपने विकास को नहीं, प्रत्युत आध्यात्मिक अनुभूतियों के दान का माध्यम बनाया ।

हिन्दी साहित्य में अरविन्द दर्शन का सूक्ष्म प्रभाव दिखाई देता है -- डॉ॰सुधाकर गोकाकार के अनुसार - यह सही है कि दिनकर जैसे कवि के काव्य का विश्लेषण करने पर अरविन्द दर्शन के कुछ पहलू प्राप्त हो सकते हैं।

डॉ॰इन्द्रसेन का कथन है -- " पिछले एक दशक में न केवल हिन्दी वरन् भारत के अन्य प्रादेशिक साहित्यों की नूतनतम प्रवृत्तियों को श्री अरविन्द की विचारधारा ने संस्कार दिया है। उनके द्वारा प्रतिष्ठित नव मानववादी मर्यादाओं ने सर्वश्री सुमित्रानन्दन पंत, दिनकर, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी जैसे साहित्य स्रष्टाओं को आकर्षित किया है।

डॉ॰सत्यकाम वर्मा ने दिनकर पर अन्य महापुरूषों के साथ-साथ श्री अरविन्द के प्रभाव की भी चर्चा करते हुए लिखा है -- " भारत के महापुरूषों में से दिनकर पर स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द, लोकमान्य तिलक और महात्मा गाँधी का सबसे अधिक प्रभाव है।

अरविन्द दर्शन तथा दिनकर जी के जीवन दर्शन के मूलस्रोत वैदिक दर्शन एवं पाश्चात्य आध्यात्मिक दर्शन है। " कुरूक्षेत्र " में अभिव्यक्त " दिनकर " का मानव की शक्तियों में विश्वास, जीवन से भागकर नहीं जीवन में रहकर जीवनोन्नति की प्रतिष्ठा, कर्म द्वारा भाग्य को भी बदल देने की भावना, वैयक्तिक मोक्ष की अपेक्षा सामूहिक आत्मोन्नति में विश्वास, निर्वाण प्राप्ति की अपेक्षा आत्मा के आवरण शरीर आदि को आत्मज्योति से प्रकाशित करने की भावना, जीवन की अमरता में श्रद्धा आध्यात्मिकता और भौतिकता का समन्वय, मानव बौद्धिक एवं रागात्मक प्रवृत्तियों में सामंजस्य की आवश्यकता, अहंकार का त्याग और ईश्वरेच्छा का अनुगमन,

निवृत्ति पर प्रवृत्ति की विजय आदि ऐसे तत्त्व हैं जो अरविन्द दर्शन के समानान्तर हैं। फलत: कहा जा सकता है कि कवि दिनकर की आध्यात्मिक मनोवृत्ति अरविन्द दर्शन के प्रभाव को ग्रहण करने के लिए अनुकूल थी। अरविन्द दर्शन के अनुसार आत्मोन्नति का क्षेत्र जीवन से परे नहीं जीवन ही है और यह उन्नति पूर्णत: तभी सिद्ध होगी जब सम्पूर्ण जीवन और जगत उन्नत होगा।

" कुरुक्षेत्र " में दिनकर ने मानव जीवन से संबंधित जितनी भी समस्याएँ उठाई हैं उनका समाधान, भारतीय एवं पाश्चात्य आस्थावादी आध्यात्मिक दर्शन के अनुसार तत्त्व ग्रहण करके प्रस्तुत करने का यत्न किया है। कवि को मानव की शक्तियों पर विश्वास है, उसे मानव की गिरकर भी उठाने की शक्ति पर श्रद्धा है। वह जीवन को आग से डरकर भागने की अपेक्षा उसमें तपकर कुन्दन बनने को श्रेयस्कर समझता है। तभी कह उठता है --

> जय हो, अघ के गहन गर्त में गिरे हुए मानव को
> मनु के सरल, अबोध पुत्र को, पुरुष ज्योति संभव को।
> हार मान हो गई न जिसकी किरण तिमिर की दासी
> न्योछावर उस एक पुरुष पर कोटि कोटि संयासी।[1]

पुनर्जन्म :

अरविन्द पुनर्जन्म को आवश्यक मानते हैं। उनकी मान्यता है कि पुनर्जन्म पुनरावृत्ति के लिए अपितु उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विकास के लिए आवश्यक है। वे यह भी मानते हैं कि पुनर्जन्म ठीक नहीं से प्रारम्भ नहीं

---

1. कुरुक्षेत्र - दिनकर - पृ. 105.

होता जहाँ से पूर्व जीवन समाप्त होता है अपितु इसमें पुनर्व्यवस्था की भी संभावना रहती है ।

अरविन्द पुनर्जन्म निर्धारित करने में कर्मों के योगदान को तो स्वीकार करते हैं किन्तु कर्मों का ठीक वैसा ही (अच्छे का अच्छा तथा बुरे का बुरा) फल मिलेगा यह नहीं मानते ।

दिनकर जी काव्य में भी जन्मान्तर के सिद्धान्त को समर्थन मिला है । " रश्मिरथी " के कर्ण की निम्नांकित उक्ति से सहज ही इसकी पुष्टि हो जाती है ।

अर्जुन है मेरा शत्रु, किन्तु वह सर्प नहीं, नर ही तो है
संघर्ष सनातन नहीं शत्रुता इस जीवन भर ही तो है
अगला जीवन किसलिए भला तब तो द्वेषान्ध बिगाड़ूँ मैं ?
साँपों को जाकर शरण सर्प बन क्यों मनुष्य को मारूँ मैं ?

" कोयला और कवित्व " संग्रह की विदेहिनी कविता में संत की जो विशेषताएँ बताई गई हैं उसमें अनासक्ति को महत्व दिया गया है । श्री अरविन्द भी योगी के लिए कामना का त्याग परम आवश्यक मानते हैं -

सन्त जो जल पर टहल कर भी चले तो
पाँव में जल का कोई दाग लगता है ।[2]

1· रश्मिरथी - दिनकर - पृ· 109·
2· कोयला और कवित्व - दिनकर - पृ· 25·

अरविन्द कहते थे, बुद्धि से ईश्वर को पाया नहीं जा सकता। आधुनिक भौतिकी ने सब कुछ न जान पाने की असमर्थता का अनुभव कर लिया है। दिनकर भी कहते हैं, गणित के फार्मूले ईश्वरकोसिद्ध नहीं करा सकते —

शंका करने लगे स्वयं पर यह क्या कम है ?
आगे है जो लक्ष्य तुम्हारे शर से विद्ध न होगा।
जो कुछ था नापने योग्य नप चुका गणित से
किन्तु गणित के फारमूलों से ईश्वर सिद्ध न होगा।[1]

श्री अरविन्द की दार्शनिक विचारधारा का उपनिषद् और गीता है। उन्होंने जगत को ईश्वर की अभिव्यक्ति माना है। जीवात्मा ईश्वर अंश है। धरती पर मनुष्य ईश्वर के यंत्र के रूप में कार्य करता है। दिनकर ने " उर्वशी " में इसी भाव की व्यंजना की है। यह सब

यह सब उनकी कृपा सृष्टि जिनकी निगूढ़ रचना है
झुके हुए हम धनुष मात्र हैं तनी हुई उस ज्या पर से
किसी और की इच्छाओं के बाण चला करते हैं।[2]

श्री अरविन्द के अनुसार ईश्वर निष्क्रिय है। सृष्टि की समस्त क्रियाओं का सम्पादन प्रकृति कर रही है। प्रकृति की शक्ति ईश्वर से ही प्राप्त है। अरविन्द प्रकृति को माया मान कर, उसका निषेध नहीं करते है।

---

1. कोयला और कवित्व - दिनकर - पृ. 38.
2. उर्वशी - दिनकर - पृ. 45.

उन्होंने प्रकृति के दिव्य रूपान्तर को ही जीवन का अंतिम लक्ष्य स्वीकार किया है । उर्वशी में ईश्वर और प्रकृति के प्रति इसी भाव की व्यंजना है । दिनकर ने प्रकृति के परिवर्तन का समर्थन अपने ढंग से किया है :

भ्रान्ति नहीं अनुभूति जिसे ईश्वर हम सब कहते हैं
शत्रु प्रकृति का नहीं न उसका प्रतियोगी प्रतिबल है
ईश्वरीय जग भिन्न नहीं है, इस गोचर जगती से
इसी अपावन में अदृश्य वह पावन सना हुआ है
परिवर्तन प्रक्रिया प्रकृति की सहज प्राण धारा है ।[1]

श्री अरविन्द ने गीता प्रबन्ध में कहा है कि ईश्वर की कार्य शैली मनुष्य की कार्यशैली से सर्वथा भिन्न है । ईश्वर की कार्य शैली को समझना मनुष्य की बुद्धि के वश की बात नहीं । दिनकर की " करधा " कविता में इसी भाव की व्यंजना है । श्री अरविन्द ने मैटर के साथ आत्मा को स्वीकार किया है । दिनकर " धरती और आकाश " कविता में देह और अदेह की एकता की व्यंजना करते हैं :

अदेह की विभा
देह में झलक मारती है ।
और दैहिक ज्योति
अदेह की आरती उतारती है ।
द्वैताद्वैत से परे
मेरी एक विनम्र टेक है

---

1. उर्वशी - दिनकर - पृ. 77.

प्रभो, मैं और तुम
दोनों एक हैं । [1]

श्री अरविन्द ने कहा है " इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धि प्रकृति के उपकरण हैं और प्रकृति के इन्हीं उपकरणों को उत्तम बनाकर, रूपान्तरित करके अतिमानस की ओर गमन किया जा सकता है ।" कठिनाइयाँ भावी विकास की सूचक होती है - दिनकर ने भी इसी भाव की व्यंजना करते हैं ।

सुख निद्रा की निशा विपद जागरण प्रात का
किरण पर चढ़ पकड़ प्रकृति उत्तम
हृदय, आकुल मन होना । [2]

ब्रह्म :

अरविन्द दर्शन का केन्द्रबिन्दु सर्वशक्तिमान पूर्ण ब्रह्म है जो उपनिषदों में सत्य, ज्ञान और अनन्त कहा गया है । ब्रह्म की अनन्तता एवं निरपेक्षता के कारण मन उसका निश्चित रूप नहीं जान सकता । उपनिषद् सदृश अरविन्द का परमतत्व सत्, चित् और आनन्द ब्रह्म है । मनुष्य की चेतना उस सच्चिदानन्द की खोज में नित्य ही संलग्न है ।

श्री अरविन्द का ब्रह्म अचिंत्य एवं अगम्य है । इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्म किसी भी विशिष्ट विशेषण तक परिसीमित नहीं किया जा सकता । सभी चर-अचर, जड़ चेतन ब्रह्म में गर्भस्थ हैं । दूसरे शब्दों में

---

1. हारे को हरिनाम - करघा कविता से - दिनकर
2. - वही - पृ. 159.

ब्रह्म यह सब कुछ है और यह सब परब्रह्म है । जीव और प्रकृति में हम जो कुछ भी देखते है उस सबका यथार्थ स्वरूप यह परमात्म तत्व ही है और यह उस परब्रह्म से भिन्न नहीं । ब्रह्म दृश्य-अदृश्य रूप में सर्वत्र व्याप्त है । "उर्वशी" महाकाव्य की निम्नांकित पंक्तियों में यही भाव ध्वनित होता है --

" ईश्वरीय जग भिन्न नहीं है इस गोचर जगती से
इसी अपावन में अदृश्य वह पावन सना हुआ है ।[1]

अरविन्द की मान्यता है कि प्रकृति और पुरुष में किसी प्रकार का द्वन्द्व नहीं अपितु पूर्ण द्वैत है । दिनकर भी पुरुष और प्रकृति के सम्बन्धों को स्थापित करते हुए कहते हैं --

द्वन्द्व रंच भर नहीं कहीं भी प्रकृति और ईश्वर में
द्वन्द्वों का आभास द्वैतमय मानस की रचना है ।
यह आभास नहीं टिकता, जब मनुज जान लेता है
अप्रयास अनुभवन प्रकृति का, सहज रीति जीवन की
क्योंकि प्रकृति और पुरुष एक है, कोई भेद नहीं है ।[2]

अन्यत्र भी दिनकर कहते हैं कि ईश्वर और प्रकृति दो विरोधी सत्ताएँ नहीं है ।

जीव :-

श्री अरविन्द जीव को चेतन सत्ता के रूप में स्वीकृत करते हैं । जीव ब्रह्म का ही एक अंश है । समस्त प्रकृति मूल रूप में ब्रह्म की शक्ति और कुछ भी नहीं है । यह शक्ति, शान्ति अवस्था में ब्रह्म में समायी

---

1. उर्वशी - तृतीय अंक - दिनकर - पृ. 74.
2. - वही - पृ. 80.

हुई रहती है और ब्रह्म में गतिशीलता के होते ही शक्ति ब्रह्म से निकलकर नाना रूपों में प्रकट होती है । इस दृष्टि से सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म का रूपात्मक एवं गत्यात्मक स्वरूप ही है । ब्रह्म अपने एक अंश का आधिपत्य स्वीकार करता है और यही जीवात्मा है । यह जीवात्मा केवल मनुष्य तक ही सीमित नहीं है अपितु पशुओं वनस्पति तथा धातुओं से भी न्यूनाधिक मात्रा में अवस्थित रहती है । निम्नकोटि की यह चेतना क्रमशः विकसित होती हुई परम चेतना में मिलने को सतत प्रयत्नशील रहती है । ब्रह्म और जीवात्मा का यही पारस्परिक सम्बन्ध है ।

उत्कृष्ट चेतन निश्चित सोपानों के द्वारा अवरोहण क्रम में जड़ पदार्थ तक अवतरित होता है और आरोहण क्रम में वही जड़ पदार्थ विकसित होता हुआ उत्कृष्ट चेतन में समाहित हो जाता है । " उर्वशी " में भी अन्ततः चेतना के ऊर्ध्वारोहण को ही स्वीकार किया गया है ।

" प्राण की चिर-संगिनी यह वह्नि
इसको साथ लेकर
भूमि से आकाश तक चलते रहो ।"[1]

श्री अरविन्द के अनुसार जड़ और चेतन एक ही ब्रह्म के व्यक्त रूप हैं । दूसरे शब्दों में जड़ और चेतन एक ही महा सत्ता के दो छोर हैं जिनके बीच में सारी वास्तविकता प्रवाहमान है । चिर अमूर्त ब्रह्म ही अवरोहण की प्रक्रिया में अन्तिम सोपान जड़ तक पहुंचता है । इस प्रकार हमें सृष्टि क्रम की दो धाराएँ समुपलब्ध होती है - अवरोहण और आरोहण ।

---

1. उर्वशी - तृतीय अंक - दिनकर - पृ. 53.

सच्चिदानन्द ब्रह्म ही उत्कृष्ट चेतन (Super mind), उच्चतर चेतन (Over mind), अन्त प्रज्ञ चेतन (Intuitive mind), आध्यात्मिक चेतन (Illumined mind), उच्च चेतन (Higher mind), मनस (Mind), आत्मा (Soul), प्राण (Life) तथा पदार्थ या जड़ (Matter) सोपानों से अवरोहण करता हुआ जड़ तत्व तक पहुँचता है और जड़तत्व ही उक्त सोपानों पर आरोहण करता हुआ उत्कृष्ट चेतन तक पहुँच कर अपने को विकसित करता है। यह अवरोहण-आरोहण क्रम चक्राकार रूप में सतत रूप में प्रवाहमान होता रहता है।

अरविन्द मानते हैं कि सबसे पहले द्रव्य था। उसमें से प्राण तत्व निकला और प्राण तत्व के भीतर से पहले उपचेतन और बाद को मस्तिष्क प्रकट हुआ। किन्तु मस्तिष्क भी पूर्ण नहीं है। इस मानस धरातल से उठकर मनुष्य को अधिमानस के धरातल पर जाना है। "दिनकर" भी प्रकारान्तर से उत्कृष्ट चेतन तक ऊर्ध्वोन्मुखी हो जाने को प्रेरित करते हैं।

"ये किरणें, ये फूल, किन्तु अन्तिम सोपान नहीं हैं
उठना होगा बहुत दूर ऊपर इनके तारों पर
स्यात्, ऊर्ध्व उस अम्बर तक जिस ऊँचाई पर से
यह मृत्तिका-विहार दिव्य किरणों का होने लगेगा।[1]

यह तो हुआ आरोहण क्रम। अवरोहण क्रम भी निरन्तर चलता रहता है। उत्कृष्ट चेतन विविध सोपानों से अवतरित होता हुआ पदार्थ या जड़ में अवस्थित हो जाता है। चेतन का यह अवरोहण अनायास उसी प्रकार होता रहता है जिस प्रकार डालो से टहनियाँ और टहनियों से पत्तियाँ प्रस्फुटित होती रहती हैं :

---

1. उर्वशी - तृतीय अंक - पृ. 58.

" आता है वह अनायास, जैसे फूटा करती हैं
डालों से टहनियाँ और पत्तियाँ स्वत: टहनों से ।"[1]

जड़-चेतन :

अरविन्द के अनुसार जड़ और चेतन में कोई तात्विक अन्तर नहीं है । दोनों एक ही परमसत्ता के दो छोर हैं । अत: दोनों एक ही हैं । जड़ चेतन का ही रूपाकार है । जड़ और चेतन में परस्पर विरोध नहीं है अपितु ब्रह्म रूपी सागर के गति रूपी आन्दोलन से उत्पन्न होती लहरें हैं । इस विराट् विश्व सृष्टि के यदि दो अर्ध माने जाए तो परार्द्ध में सत् चित् आनन्द एवं सुपर माइण्ड एवं अधीनस्थ शक्ति के रूप में अपरार्द्ध में उन्हीं के प्रतिबिम्ब क्रमश: जड़, प्राण, चैत्य पुरूष एवं मन हैं । इस प्रकार सत् यदि अपने को प्रकाशित करना चाहता है तो उसे जडात्मक आवरण धारण करना ही होगा । वैसे ही यह जडात्मक आवरण भी उसी का स्वेच्छा या परि - गृहीत रूप है ।

दिनकर भी अरविन्द दर्शन से प्रभावित होकर इस तथ्य का ही निरूपण किया है कि ऊर्ध्व स्थित चैतन्य ही गर्त के तम अर्थात् जड़ में समाविष्ट है अत: जड़ एवं चेतन का समान महत्त्व है । उर्वशी की निम्नांकित पंक्तियों में यही भाव व्यंजित होता है --

" शिखरों में जो मौन, वही झरनों में गरज रहा है
ऊपर जिसकी ज्योति, छिपा है वही गर्त के तम में ।"[2]

---

1. उर्वशी - तृतीय अंक - दिनकर - पृ. 76.
2. आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में अरविन्द दर्शन - देवदत्त शर्मा - पृ. 326.

मायां की अवधारणा :

अरविन्द के अनुसार ब्रह्म जिस शक्ति से जगत के रूप में अभिव्यक्त होता है उस शक्ति का नाम माया है । यह उच्च दैवी माया ही विश्व की वास्तविक रचयिता है जो किसी भी दृष्टि से भ्रांति नहीं अपितु सच्चिदानन्द के ज्ञान की चयनात्मक प्रक्रिया है । इस शक्ति से जब चेतना आवृत्त हो जाती है तो एकता का ज्ञान नहीं रहता और विविधता ही सत्य प्रतीत होने लगती है । परन्तु ज्ञान हो जाने पर सब कुछ सच्चिदानन्दमय प्रतीत होने लगता है । इस स्थिति में सभी प्रकार के द्वन्द्वों की परिसमाप्ति हो जाती है ।

" द्वन्द्वों का आभास द्वैतमय मानस की रचना है
यह आभास नहीं टिकता, जब मनुज जान लेता है ।[1]

आधुनिक हिन्दी कवियों में दिनकर ही ऐसे कवि हैं जिन्होंने श्री अरविन्द से प्रभावित कविताएँ ही नहीं लिखी, वरन उनकी विचारधारा का विवेचन भी किया है । दिनकर के काव्य सिद्धान्त श्री अरविन्द काव्य सम्बन्धी मान्यताओं से प्रभावित हैं ।

श्री अरविन्द ने कहा है कि " कवि योगी होता है क्योंकि कवि भी साधारण मन के स्तर से आगे उठता है, मन के सहज स्फुरण के स्तर से कवि केवल वस्तुओं के भौतिक अर्थ को नहीं देखता आध्यात्मिक अर्थ को भी देखता है । " दिनकर भी मानते हैं कि कवि विश्व की अधिभौतिक व्याख्याओं को स्वीकार नहीं करता है, आध्यात्मिक व्याख्या के लिये प्रयास

---

1. आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में अरविन्द दर्शन - देवदत्त शर्मा - पृ. 331.

करता है । प्रत्येक कविता किसी-न-किसी हदतक आध्यात्मिक होती है । श्री अरविन्द मानते हैं कि कविता वह है जो अकथ्य को कथ्य बनाने का प्रयास करे । श्री अरविन्द ने काव्य को जीवन की आलोचना नहीं व्याख्या कहा है दिनकर का मत भी ऐसा ही है ।

निष्कर्ष :

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि सुमित्रानन्दन पंत की तरह दिनकर ने श्री अरविन्द से प्रभावित होकर किसी जीवन दर्शन को नहीं गढ़ा है, पर आंशिक रूप से उनकी कवितायें और उनके काव्य सिद्धान्त अरविन्द से प्रभावित रहे हैं और यह प्रभाव अंतिम रचना पर अधिक है ।

3.4. लारेंस - दिनकर :-

दिनकर ने भारतीय कामचिन्तन और प्रवृत्ति मार्ग जीवन दर्शन का स्वीकार किया है, इसमें कोई सन्देह नहीं है । क्योंकि उर्वशी की भूमिका में उन्होंने पद्मपुराण से उद्धरण देते हुए न केवल काम से धर्म की उत्पत्ति को स्वीकार किया है । बल्कि धर्म और काम को छोड़कर अर्थ को पकडनेवाला तथा धर्म सिद्धि के लिए अर्थ और काम की उपेक्षा करनेवाले मनुष्य को भी जघन्य माना है । शिव पुराण में --

काम: सर्वमय: पुसा: स्संकल्प समुद्भव:
कामात् सर्वे प्रवर्तन्ते, लीयन्ते वृद्धिमागता:[1]

कहकर काम को मानवीय व्यापारों के मूल में माना गया है । उसी तरह दिनकर जी ने काम के भौतिक और अध्यात्मिक रूप को तथा उसके निष्काम निष्पादन को जीवन के सभी क्षेत्रों में व्याप्त माना है ।

---

1. शिवपुराण - धर्मसंहिता - अध्याय - 8

उनका यह दृष्टिकोण भारतीय चिन्ताधारा के प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रभाव से निर्मित तो है ही, पाश्चात्य विचारकों के चिन्तन से भी संचलित और संपुष्ट है। पश्चिम के चिन्तकों में उपन्यासकार डी·एच·लारेंस और दार्शनिक बर्ट्रेण्ड रसेल के चिन्तन का बहुत दूरतक उपयोग दिनकर जी ने किया है। मुख्यत: दिनकर के उर्वशी पर लारेंस का गहरा प्रभाव दिखता है। इस सन्दर्भ में डॉ·कुमार विमल का कथन है कि "उर्वशी में दिनकर जी ने नर-नारी प्रेम की जिस अशरीर आनन्द लहर को प्रस्तुत किया है, उसमें इन्होंने कालिदास, फ्रायड और लारेन्स की प्रेमदृष्टियों के समीकृत रूप को कुछ दूर तक स्वीकार किया है।"[1]

लारेन्स का "विमेन इन लव" (*Women in Love*) शीर्षक उपन्यास दिनकर कृत उर्वशी का एक प्रमुख प्रेरणा स्रोत रहा है। इसके साथ ही लारेन्स के "लेडी चैटरलीज लवर" शीर्षक उपन्यास तथा उसकी भूमिका के रूप में स्वतन्त्र रूप से लिखी "*A propos of Lady Chetterley's lover and other essays*" शीर्षक कृति से भी दिनकर को उर्वशी के प्रणयन की किंचित प्रेरणा मिली प्रतीत होती है। लारेन्स के (*Women in Love*) "विमेन इन लव" उपन्यास का पतिपाद्य उर्वशी से बहुत भिन्न नहीं है। क्योंकि उसमें भी स्वच्छन्द प्रेम पर बलदेते हुए नारी को वासनापूर्ति का माध्यम न मानकर, उसमें आत्मा को उच्चतर सोपानों की ओर ले जाने की क्षमता में विश्वास व्यक्त किया गया है तथा मांसल भोगों को भी ऐन्द्रियोत्तर अनुभूतियों का जनक माना गया है। लारेन्स ने प्रस्तुत उपन्यास में मुख्यतया बर्किन और उर्सुला दम्पत्ति तथा जेराल्ड और गुड्रन प्रेम युगल के प्रेम सम्बन्धों को नाना भाव भूमियों का चित्रांकन है।

1· कुमार विमल - उर्वशी - पृ· 216·

लारेंस ने काम के सम्बन्ध में अपने विचारों को न केवल अपनी रचनाओं में स्थान दिया है बल्कि " लेडी चटर्लीज लवर " को भूमिका के रूप में लिखी स्वतंत्र कृति " ए प्रोपोज ऑफ लेडी चटर्लीज लवर एण्ड अदर एसेज " में विस्तार से स्पष्ट किया है । यूरोप के मध्यकालीन पवित्रता-वादी जीवन दृष्टि के कारणों का विवेचन करते हुए लारेंस ने बताया है कि इसके मूल में इंगलैण्ड के राजघरानों, सामन्ती परिवारों और प्रबुद्धवर्ग के बीच व्यापक रूप से फैला हुआ उपदेश का रोग था । इसका परिणाम स्वरूप अधिकांश लोग काम के शारीरिक पक्ष से बचने लगे थे तथा मानसिक सौन्दर्य, नैतिकता और आचरणगत उच्चता के समर्थक बन गये थे । लारेंस ने इस काम कुण्ठित सभ्यता को छद्म कामानुभूति की घोर निन्दा की है । इस निन्दा के उपरान्त लारेंस ने इस काम की शक्ति और सहजता का प्रतिपादन किया है । उसके अनुसार मनुष्य को ऐन्द्रिय तुष्टि का उसकी अन्तर चेतना पर प्रभाव पड़ता है । स्त्री-पुरूष के पारस्परिक आकर्षण से प्राप्त आनन्द की मूल प्रेरणा सहज अन्तश्चेतना से प्रेरित होती है ।

लारेंस एक ओर काम कुंठा से सामाजिक व्यक्ति को स्वास्थ प्रदान करना चाहते थे, तो दूसरी ओर पूँजीवादी समाज और समाजवादी चेतना के सभी " टैबूज " को विनष्ट करना चाहते थे । उन्हें प्रतीत हुआ था कि " टैबूज " से जकड़ा व्यक्ति अपनी निजी अस्मिता खो बैठा है । अत: उसे उसकी अस्मिता पुन: वापस मिलनी चाहिए । इस प्रकार ब्रिटिश प्रजातन्त्र का महत्वपूर्ण तत्व व्यक्ति स्वातंत्र की बात वे अपनी रचनाओं के माध्यम से उठा रहे थे । यहाँ यह भी स्मरण रखना पड़ेगा कि स्वच्छन्दता-वादियों का प्रभाव भी उन पर उस अंश तक था, जिस अंश तक प्रेम की सीमा में उनकी रचना प्रयास करती है । प्रेम का सम्बन्ध भावनात्मकता से है ।

स्वच्छन्दतावादी कवियों की तरह प्रेम के उदात्त रूप अर्थात् उसके चरम उत्कर्ष के क्षणों में उसकी वायवीयता को स्वीकारते हैं, पर प्रेम का जन्म जैविक धरातल पर ही उत्पन्न होता है, इसे भी उन्होंने स्वीकार किया है। इस तरह उनकी सृष्टि में बुद्धि और भावना का संगम हो गया है। लारेंस और उनके चरित्र बगावत की मुद्रा में होने के कारण ध्वंस को ही कर्त्तव्य मान लेते हैं, पर सर्जनात्मक दायित्व से कतरा जाते हैं या कि "पैसेसो" की रचना में निमग्न हो जाते हैं। मुक्ति चाहते हैं पर मुक्ति के दायित्व से आँखें चुराते रहते है। फिर भी उनके चरित्र पाठक के मन पर अपना प्रभाव छोड़ जाते हैं अर्थात् उद्वेलित कर जाते हैं।

लारेंस ने प्रेम का उद्देश्य ऐन्द्रिय उपभोग से उच्चतर एवं महत्तर बतलाया है। उनका अभिप्राय है कि प्रेम एकाकीपन और संत्रास से प्रेमी युग्म को मुक्ति दिलाता है। कठिनाइयों तथा संकटों में ये परस्पर सहायता, प्रोत्साहन, साहस, प्रेरणा प्रदान करते हैं। इस प्रकार जीवन के संघर्षों से जो नीरसता प्रसारित हो जाती है, उससे व्यक्ति मुक्त होकर सरस जीवन जीता है। मानसिक तनाव से छुटकारा मिलता है।

3.4.1. लारेंस और काम चेतना :-

लॉरेन्स का अभिमत है कि मानव जाति की ऐन्द्रिय दृष्टि एवं पुनरुत्पादन की मौलिक या नैसर्गिक प्रवृत्तियों पर ही उसकी अन्य अनेक गहन सहजवृत्तियों और अन्तश्चेतनता का सहज प्रवाह निर्भर रहता है। नर-नारियों को परस्पर रक्तमांस का सम्बन्धाकर्षण ही उनकी अन्तश्चेतना के आत्मज्वार (प्रवाह) के माध्यम से परस्पर अनुबद्ध रखता है। हमारे परस्पर के आकर्षण भाव की जो जीवन के गहन आनन्दों का स्रोत है। मूल प्रेरणा सहज अन्तश्चेतना से अनुप्राणित होती है मस्तिष्क या चिन्तन से नहीं।

लॉरेन्स ने अपने उपन्यास " विमेन इन लव " में प्रतिपादित किया है कि नारी केवल वासनापूर्ति का माध्यम नहीं, आत्मा को उच्चतर सोपानों की ओर लेजाने में भी सक्षम है । मांसल भोग या दैहिक काम ही उन्नयन के द्वारा लोकोत्तर हो जाता है । इस उपन्यास के दोनों नायक वर्किन और जेराल्ड ऐन्द्रिय उपभोग में लोकोत्तर आनन्द का अनुभव करते हैं । वर्किन मूलतः वासना रहित प्रेम का समर्थक है जैसे हम पुरूरवा में देखते हैं । इसी तरह वर्किन की प्रेमिका उर्सला में दैहिक भोग की प्रवृत्ति प्रबल है जैसे हम दिनकर की उर्वशी में पाते हैं ।

लॉरेन्स ने लिखा है कि स्त्री-पुरूष के सजीव दैहिक रूप के अतिरिक्त उनका एक भावात्मक और सूक्ष्म रूप भी होता है । प्रणय के तन्मयतापूर्ण क्षणों वे इसी भावमय व्यक्तित्व से मिलते हैं । दिनकर भी उर्वशी की भूमिका में कहते हैं " नारी के भीतर एक और नारी है, जो अगोचर और इन्द्रियातीत है । इस नारी का सन्धान पुरूष तब पाता है, जब शरीर की धारा, उछालते-उछालते, उस मन के समुद्र में फेंक देती है, जब दैहिक चेतना से परे, वह प्रेम की दुर्गम समाधि में पहुँच कर निस्पन्द हो जाता है ।"

और पुरूष के भीतर भी एक और पुरूष है, जो शरीर के धरातल पर नहीं रहता, जिससे मिलने की आकुलता में नारी अंग-संज्ञा के पार पहुँचना चाहती है ।

परिरम्भ पाश में बंधे हुए प्रेमी, परस्पर एक दूसरे का अतिक्रमण करके किसी ऐसे लोक में पहुँचना चाहते हैं, जो किरणोज्ज्वल और वायवीय है ।[1]

---

1. उर्वशी - भूमिका - दिनकर { 1978 संस्करण }

" इन्द्रियों के मार्ग से अतीन्द्रिय धरातल का स्पर्श, यही प्रेम की आध्यात्मिक महिमा है ।" [1]

" सेक्स " के बारे में लॉरेन्स की मान्यता है कि " सेक्स हमारे लिए एक बहुत ही शक्तिशाली, लाभकारक परमावश्यक और ऐसी प्रेरणादायक शक्ति है, जो हमें सूर्य की रोश्मी के समान संतुष्ट, ऊष्मा एवं स्वाभाविक जीवन प्रवाह से अनुप्राणित कर देती है । (" sex is a very powerful, beneficial and necessary stimulus in Human life, and we are all grateful when we feel its warm, natural flow through us, like a form of sunshine.")

आगे वे कहते हैं सेक्स के विषय में युवक युवतियों को जितने ही अधिक अँधेरे में रखने की चेष्टा की जाती है उनमें उतने ही अधिक मनोविकार उत्पन्न हो जाते हैं । सच्चे ऐन्द्रिय उपभोग के समय जहाँ हमारी शारीरिक उत्तेजना का कुछ प्राकृतिक अंश क्षरित होता है, वहाँ हममें नवचेतना, और नूतन ऊर्जा का प्रवेश भी होता है ।

इस सन्दर्भ में डॉ॰ विजेन्द्र नारायण सिंह का कथन द्रष्टव्य है ।
" काम मनुष्य के जीवन में असाधारण भूमिका निभाता है । कारण कि आधुनिक जीवन में यही एकमात्र गहन और प्रत्यक्ष अनुभूति है । बुद्धि और आवेग के धरातल पर हम इसी की नकल करते हैं, पीछा करते हैं, आदेश मानते है । सेक्स के सिवा हमारे अन्य सारे सम्बन्ध दु:ख से भरे हैं । चूँकि यह कृत्य इतना मोहक है कि हम इसे बार-बार दुहराना चाहते हैं, चूँकि इस कृत्य की आवृत्ति से समाज की अनेक पाबन्दियाँ टूटती हैं, इसलिए भी यह समस्या बन गया है ।" [2]

1· उर्वशी - भूमिका - दिनकर (1978 संस्करण)
2· लेख - उर्वशी - काम की आधुनिक समस्याएँ - डॉ॰ विजेन्द्र नारायण सिंह - पृ॰ 157·

3·4·2· दिनकर के काव्य में लॉरेन्स की विचारों की अभिव्यक्ति :-

लॉरेन्स का मत है कि सच्ची और वास्तविक कामानुभूति वाले नर नारियों में तो सेक्स एक ऐसे सर्जनात्मक प्रवाह के समान होता है, जो उनके शरीर की गन्दगी या विकारों को बहाकर समाप्त कर देता है, जबकि उसकी छद्म अनुभूतिवाले स्त्री-पुरूषों में वह गंद का ही ढेर बन जाता है । उर्वशी भी इन्हें क्रमश: धर्म और पाप बताती हुई कहती है --

" काम धर्म काम ही पाप है, काम किसी मानव को
उच्च लोक से गिरा हीन पशु-जन्तु बना देता है ।
और किसी मन में असीम सुषमा की तृषा जगाकर
पहुँचा देता उसे किरण-सेवित अति उच्च शिखर पर । "[1]

लारेंन्स ने यह भाव व्यक्त किया है कि प्रेम की तन्मय अवस्था में द्वन्द्वों से मुक्त होकर प्रेमी अपनी आदिम इच्छाओं अर्थात् काम तुष्टि की क्रिया में प्रवृत्त हो जाते हैं । ऐसे क्षण में वे अपने को किसी अज्ञात शक्ति के हाथों में समर्पित कर उसकी इच्छा के क्रीड़ा-कन्दुक बन जाते हैं । ("Because I don't know what I want of you. I deliver myself over to the unknown in coming to you. I am without reserves or defences, stripped entirely into the unknown.").[2]

पुरूरवा भी लगभग यही बात उर्वशी से कहता है, वह बतलाता है कि देह की सीमा का अतिक्रमण करने पर हम जिस ऊर्ध्व आकाश में गमन करते हैं, वहाँ पहुँच कर हम दोनों स्त्री-पुरूष नहीं, उसी मूल सत्ता के प्रतिमान मात्र रह जाते हैं ।

1· उर्वशी - तृतीय अंक - दिनकर - पृ· 66 (1978 संस्करण)
2. Women in love - Lawrence - Page No : 138

" वह निर भ्र आकाश, जहाँ की निर्विकल्प सुषमा में
न तो पुरूष मैं पुरूष, न तुम नारी केवल नारी हो,
दोनों हैं प्रतिमान किसी एक ही मूल सत्ता के
देह बुध्दि से परे, नहीं जो नर अथवा नारी है ।"

जिस तरह लारेंस का बर्किन प्रेम का उद्देश्य ऐन्द्रिय भोग न मानकर किन्ही उच्चतर लक्ष्यों की प्राप्ति मानता है, उसी तरह पुरूरवा भी दैहिक भोग की अपेक्षा समर्पण और प्रणय उपचार पर अधिक बल देता है । वह कहता है --

" मैं तुम्हारे रक्त के कण में समाकर
प्रार्थना के गीत गाना चाहता हूँ ।" [1]

" वोमेन इन लव " में उसकी नायिका उर्सुला को रति क्रीड़ा के लिए पहल करनी पड़ती है । उर्वशी में भी उर्वशी को ही पुरूरवा को प्राप्त करने के लिए धरती पर आना पड़ता है और पुरूरवा को दिव्धा से निकाल कर रति क्रीडा के प्रति उन्मुक्त और उत्तेजित करने के लिए भी उसी को प्रयत्न करना पड़ता है । जिस तरह सहवास के लिए उर्सुला के प्रस्तुत होते हुए भी बर्किन उसके साथ सहवास न करके एक विचित्र द्विधापूर्ण मन स्थिति में पड़ जाता है और भोग विमुख हो जाता है । उसी तरह दिनकर का पुरूरवा भी शारीरिक सुख भोग के क्षणों में द्वन्द्वग्रस्त होकर निर्णय नहीं कर पाता है कि रूप की आराधना का मार्ग आलिंगन है अथवा नहीं । जिस प्रकार "Women in love" में लारेंस ने व्यक्त किया है उसी प्रकार उर्वशी में भी दिनकर ने निम्न पंक्तियाँ द्वारा प्रस्तुत किया है ।

---

1. उर्वशी - दिनकर - पृ. 55.

" किन्तु रस को पात्र पर ज्योंही लगाता हूँ अधर को
घूंट या दो घूंट पीते ही
न जाने, किसी अतल से नाद यह आता,
अभी तक भी न समझा ?
दृष्टि का जो पेय है, वह रक्त का भोजन नहीं है,
रूप की आराधना का मार्ग आलिंगन नहीं है । " [1]

बर्किन की इस नपुंसक और भावात्मक प्रवृत्ति तथा भोग विमुखता पर व्यंग्य करते हुए उर्सुला कहती है कि तुम मेरे पास आने के बदले अपनी आत्मस्थ, काल्पनिक पत्नियों के पास जाओ क्योंकि न मैं लौकिक भावों से विरत हो सकती हूँ और न तुम्हारी इन आत्मस्थ पत्नियों को सहन कर सकती हूँ । दूसरे शब्दों में उर्सुला चाहती है कि बर्किन उसी के समान तन्मयता और आवेग के साथ दैहिक सुख का भोग करे मगर बर्किन तो केवल दरस-परस तक में ही अपने को सीमित कर लेता है । ठीक यही व्यथा उर्वशी को है । वह पुरुरवा से प्रश्न करती है --

तन से मुझको कसे हुए अपने दृढ़ आलिंगन में
मन से किन्तु विषण्ण दूर तुम कहाँ चले जाते हो ?
बरसा कर पीयूष प्रेम का, आँखों से आँखों में
मुझे देखते हुए कहाँ तुम जाकर खो जाते हो ? [2]

काम-सुखों के क्षणों में सांसों का स्पर्श, अधरों का चुम्बन तथा उंगलियों का स्पर्श से जिस अकथनीय सुख का अनुभव होता है, वह सूक्ष्म पूर्ण, अनिर्वचनीय और जैविक है । इस का सम्बन्ध रक्त से होता है, बुद्धि से नहीं । अर्थात्

---

1. उर्वशी - दिनकर - पृ. 49.
2. - वही - पृ. 47.

काम सुख अनुभूति का विषय है, बुद्धि व्यापार का नहीं । लारेंस ने निम्न पंक्तियों में रक्त की शक्ति का इस प्रकार चित्रण किया है --

" She had her desire of him she touched. She received the maximum of unspeakable communication in touch, dark, subtle, positively silent, a magnificent gift and give again, a perfect acceptance and yielding, a mystery, the reality of that which can never be known, vital sensual reality that can never be transmitted into mind content, but remains outside, living body of darkness and silence and subtlety, the mystic body of reality."

यही भाव प्रश्न को भाषा में दिनकर ने उर्वशी में प्रस्तुत किया है --

श्रुति पुट पर उत्तप्त श्वास का स्पर्श और अधरों पर
रसना की गुद गुदी अदीपित निशा के अंधियाले में
रस माती, भटकती उंगलियों का संचरण त्वचा पर,
इस निगूढ़ कूजन का आशय बुद्धि समझ सकती है !
उसी समझता रक्त, एक कंपन जिसमें उठता है
किसी दूब की फुनगी से औचक छू जाने पर भी । [1]

लॉरेन्स का विचार है कि प्राय: आदर्शवादी मनुष्य अपनी कामजन्य भावुकता को छिपाया करता है और छद्मानुभूति में अपना जीवन बिताया करता है । इससे एक ओर तो उसमें कुंठाएँ घर कर लेती हैं और दूसरी ओर

---

1. उर्वशी - दिनकर - पृ. 60.

वह कृत्रिम एवं अवास्तविक जीवन व्यतीत करने लगता है। परन्तु भौतिक काम जब ऐसे कुंठाग्रस्त एवं कृत्रिम जीवन बिताने वाले व्यक्ति पर आक्रमण करता है, तब उसका छद्मवेश छिन्न-भिन्न हो जाता है, उसकी कलाई खुल जाती है और वह एक मूर्ति में सिमिट गयी किस भाँति सिद्धियाँ सारी, कब था ज्ञात मुझे इतनी सुन्दर होती है नारी कहकर पुरूरवा की तरह अपनी छिपी हुई दमित कामवासना या कामजन्य भावुकता को व्यक्त करने लगता है। इतना ही नहीं, ऐसे आदर्शवादी व्यक्ति प्राय: शारीरिक काम की निन्दा किया करते हैं और मानसिक काम ही सारे पापों की जड़ हैं, क्योंकि यह प्रेत की तरह सदैव मानव के साथ लगा रहता है और समाज में मानसिक पीडा एवं मानसिक तनावों को जन्म देता है। कवि दिनकर ने भी तन का काम अमृत, लेकिन यह मन का काम गरल है कहकर लॉरेन्स के ही मत का समर्थन किया है और शारीरिक काम को नैसर्गिक एवं अनिवार्य बताकर उसकी प्रशंसा की है तथा मानसिक काम को तुच्छ, गर्हित एवं विनाशक मानकर उसकी निन्दा की है। यह सत्य भी है, क्योंकि तन के काम की तो संभोग द्वारा तृष्टि हो जाती है, परन्तु मानसिक काम सदैव अतृप्त रहता है, उसकी तृष्णा कभी नहीं बुझती और वह अनेक प्रकार की विकृतियों का कारण बन जाता है। तभी तो कवि ने "तन का क्या अपराध यन्त्र यह तो सुकुमार प्रकृति का, सीमित उसकी शक्ति और सीमित अवस्था एवं संतुष्टि की ओर संकेत किया है और "मन जब ही आसक्त काम के लक्ष्य अनेक सुखों पर तो चिन्तन में भी उन्हें सुखों की स्मृति ढोये फिरता है और विकल व्यग्र फिर-फिर मधुसर में अवगाहन करने को, स्नेहा-कुण्ठनहीं, तो यत्नों से, छल से, बल से भी कहकर यह स्पष्ट इंगित किया है कि मानसिक काम अपने इच्छित भोगों की प्राप्ति करने के लिए नाना प्रकार के यत्न छल-बल आदि को अपनाया करता है और बार-बार भोगों में लिप्त रहने के लिए छट पटाया करता है। अत: यह मानसिक काम

बड़ा शक्तिशाली है, इस पर नियंत्रण करना कठिन है और यही काम समाज में व्यभिचार, बलात्कार, पापाचार आदि कुप्रवृत्तियों को फैलाया करता है । लॉरेन्स ने एक स्थल पर काम को सृजनशील प्रवाह मानते हुए उसके आधिक्य को विनाशक एवं पतनोन्मुख बताया है ।[1] लॉरेन्स की भाँति दिनकर जी भी यह मानते हैं कि जब मनुष्य का मन और बुद्धि काम की अति आसक्ति से ग्रस्त हो जाते हैं, तभी उसके काम से दुर्दमनीयता और राक्षसों की सी कलुषित वृत्तियों का समावेश हो जाता है --

> मन जब हो आसक्त काम से लक्ष्य अनेक सुखों पर
> चिन्तन में भी उन्हें सुखों की स्मृति ढोये फिरता है
> तभी काम से बलात्कार के पाप जन्म लेते हैं ।[2]

लॉरेन्स कहता है -- " रूधिर में विश्वास ही मेरा सबसे बड़ा धर्म है । मांस बुद्धि की तुलना में अधिक चतुर होता है । हम लोग अपने मन में गलती कर सकते हैं । लेकिन रूधिर जो अनुभव करता है, जो विश्वास करता है, जो कहता है । वह हमेशा सच ही होता है । दिनकर भी उतने ही विश्वास से कहते हैं --

> रक्त बुद्धि से अधिक बली है और अधिक ज्ञानी भी
> क्योंकि बुद्धि सोचती और शोणित अनुभव करता है
> निरी बुद्धि की निर्मितियाँ निष्प्राण हुआ करती है
> चित्र और प्रतिमा, इनमें जो जीवन लहराता है,
> वह सूत्रों में नहीं, पत्र पाषाणों में आया है,
> कलाकार के अन्तर के हिलकोटे हुए रूधिर से । "[3]

1· ए प्रपोज ऑफ लेडी चैटरलीज लवर एण्ड अदर एस्सेज - डी·एच·लारेंस -पृ·7

2· उर्वशी - दिनकर - पृ· 82·

3· उर्वशी : उपलब्धि और सीमा -विजेन्द्र नारायण सिंह - पृ· 57-58·

प्रेम की तरह, विवाह के विषय में भी लॉरेन्स के अपने सुचिन्तित मत हैं। उसके अनुसार वह विवाह कोई विवाह नहीं है जो रुधिर का आदान-प्रदान नहीं है। क्योंकि आत्मा का सत्व रुधिर ही है और साथ ही गहरी चेतना का भी।

आगे उन्होंने कहा है कि नर का रुधिर और नारी का रुधिर ये सदा दो पृथक् धाराएँ हैं, जो कभी मिलायी नहीं जा सकतीं। लेकिन इसीलिए वे ऐसी दो नदियाँ हैं जो हमारे समग्र जीवन को घेरे हुए हैं और ब्याह में यह चक्र पूरा हो जाता है और सेक्स में ये दो नदियाँ एक दूसरे को स्पर्श कर ताजगी प्रदान करती हैं। हलाँकि ये न तो एक दूसरे में विलीन होती हैं न एक दूसरे को भ्रमित करती है। यह हम जानते हैं हमारा शिश्न रुधिर का एक स्तम्भ है जो नारी के रुधिर की घाटी को भर देता है। नर के रुधिर की महान् नदी नारी के रुधिर की महान् नदी का स्पर्श करती है, पूरी गहराई तक तो भी कोई अपना किनारा नहीं तोड़ती है। सभी धर्म जानते हैं कि यह सबसे प्रगाढ़ सम्पर्क है।"
सम्भोग की निबिड़ता का चित्रण करते हुए दिनकर कवित्व की गरिमा में रुधिर सिद्धान्त का ही आख्यान करते हुए सब कुछ कह जाते हैं--

> श्रुति-पुट पर उत्तप्त श्वास का स्पर्श और अधरों पर
> रसना की गुदगुदी, अदीपित निशि के अँधियाले में
> रस-माती, भटकती उँगलियों का संचरण त्वचा पर,
> इस निगूढ़ कूजन का आशय बुद्धि समझ सकती है,
> उसे समझता रक्त, एक कंपन जिसमें उठता है
> किसी दूब की फुनगी से औचक छू जाने पर भी।"[1]

---

1. उर्वशी - उपलब्धि और सीमा - विजेन्द्र नारायण सिंह - पृ॰51-52॰

टॉमस मान 'Transposed Heads' नामक उपन्यास में कहते हैं कि "यह संसार ऐसा नहीं है कि आत्मा केवल आत्मा को प्यार करें और सौन्दर्य केवल सौन्दर्य को। आत्मा सौन्दर्य को पाना चाहती है और सौन्दर्य भी आत्मा की ओर उड़ना चाहता है।"[1]

लॉरेन्स के "लेडी चैटरलीज लवर" उपन्यास के भी कुछ अंश उर्वशी के प्रसंगों से साम्य रखते हैं। उदाहारण -- इस उपन्यास के आरम्भ में "कौनी" और "हालिदा" बहनें पुरुषों की बेवफाई के विषय में सोचती हैं कि पुरुष जाति स्वभाव से ही ऐसी कृतघ्न है कि स्त्री जाति द्वारा सर्वस्व समर्पित करने पर भी उनसे असन्तुष्ट ही रहती है। यदि कोई स्त्री उनकी इच्छा पूर्ति नहीं करती, तो वे उससे इसलिए घृणा करते हैं कि वह उनकी इच्छा को ठुकरा रही है जबकि यदि वह उनकी इच्छा के अनुकूल आत्म समर्पण कर भी दे तो वे किसी अन्य कारण से अथवा अकारण ही उससे घृणा करने लगते हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि स्त्रियाँ उनके लिए चाहे जो कुछ करें, किन्तु नर जाति तो उन असंतुष्ट बच्चों के समान ही रहती है, जिनकी इच्छाओं का कोई अन्त ही नहीं होता। नारियों के सम्बन्ध में नर मनोविज्ञान का बड़ा यथातथ्य अंकन करनेवाले हालिदा और कौनी के विचारों की स्पष्ट अनुगूँज उर्वशी में चित्रलेखा और मदनिका के इन कथनों में मिलती हैं--

उस पर भी नर में प्रवृत्ति है क्षण क्षण अकुलाने की
नयी नयी प्रतिमाओं का नित नया प्यार पाने की

x x x x x

ग्रीवा में झूलते कुसुम पर प्रीति नहीं जगती है
जो पद पर चढ़ गई, चाँदनी फीकी वह लगती है।

निष्कर्ष: दिनकर का काम चिन्तन भारतीय तन्त्र साधना और सहजमार्गी साधकों के काम चिन्तन तो प्रभावित है ही, लॉरेन्स और रसैल से भी पूर्णत: प्रभावित है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि पश्चिमी मान्यताओं पर भारतीय शास्त्रीयता की मुहर लगा कर प्रामाणिक बनाना दिनकर का उद्देश्य रहा है। यह दूसरी बात है कि यह दृष्टिकोण हमारी नैतिकता द्वारा अग्राह्य है, लेकिन यह भी सही है कि पुरूरवा और औशीनारी के असन्तुष्ट दाम्पत्य में घुटते रहने से अच्छा है कि उससे मुक्ति लेकर एक नया जीवन होने का प्रयास किया जाये। आज का शिक्षित भारतीय समाज को गम्भीरता पूर्वक दाम्पत्य सम्बन्धों के विषय में सोचता है, वह पुरूरवा जैसा आचरण भले ही न करे लेकिन वह असफल दाम्पत्य सम्बन्धों को विवशता पूर्वक ढोने के लिए तैयारनहीं है। अन्त में यह कह सकता है कि दिनकर के मानस में कुंठित काम वृत्ति के विषय में जो द्वन्द्व विद्यमान था, वह निस्सन्देह लॉरेन्स के "वोमन इन लव" शीर्षक उपन्यास एवं उनकी कविताओं और लेखों से यह प्रेरणा पाकर शान्त हुआ।

चतुर्थ अध्याय

साहित्यक स्रोतों की तलाश

4· साहित्यिक स्रोतों की तलाश

4·1· रवीन्द्रनाथ ठाकुर की युगभूमि :-

भारतीय काव्य साहित्य में रवीन्द्रनाथ ठाकुर एक व्यक्ति नहीं है अपितु युग है। काव्य एवं कर्म दोनों में उनकी प्रतिभा का अपूर्व योगदान है। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। रवीन्द्र प्रमुख विचारक थे। उन्होंने बंगला भाषा को एक नया मोड़ दिया तथा साहित्य की सभी विधाओं में समान अधिकार से लिखा। उनका साहित्य एवं जीवन समानान्तर रथ के दो पहियों के समान राजमार्ग पर अग्रसर होता है। रवीन्द्रनाथ प्रतिभाशाली चित्रकार तथा संगीतकार थे। भारत के स्वाधीनता-संग्राम में उन्होंने सक्रिय भाग लिया था। रवीन्द्रनाथ को भारतीय मनीषा का प्रकाश स्तंभ बिना झिझक से कहा जा सकता है। इस सन्दर्भ में रामधारी सिंह दिनकर का कथन है -- हमारे वर्तमान लौहायुग में अगर कविता की मर्यादा को कोई कायम रखे हुए है, तो वह रवीन्द्रनाथ है। ··· आगे दिनकर जी

कहते है कि -- "कविताओं के क्षेत्र में कालिदास, तुलसीदास और सूरदास तथा यूरोप के दो-एक कवि रवि बाबू के प्रतिद्वन्द्वी हो सकते हैं। उनके निबन्धों से टक्कर लेनेवाले निबन्ध समग्र विश्व-साहित्य में अत्यन्त अल्प मात्रा में लिखे गये होंगे। उनके निबन्धों में वे सभी गुण है, जो उच्चकोटि के निबन्धों में मिला करते हैं। उनके उपन्यासों और कहानियों में भी वे सभी तत्व विद्यमान हैं, जिन्हें लेकर अच्छी कहानियाँ और उपन्यास लिखें जाते हैं। विद्या के विभिन्न क्षेत्रों में रवि बाबू ने अपनी प्रतिभा का जो विलक्षण परीचय दिया है, उसे देखते हुए ही ऐसा अनुमान होता है कि संसार के सभी कवियों की आत्माएँ अगर एककाल में एकत्र की जा सकें।

डॉ॰हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है -- "रवीन्द्रनाथ ने सारे देश में कवियों और कलाकारों के अन्तरंग की सर्जनात्मक प्रक्रियाओं को प्रभावित किया। वे कवियों के कवि और कलाकारों के कलाकार है। उनकी महत्ता इस (प्रभाव) में ही निहित है न कि उनकी अनूदित कृतियों की संख्या में अथवा छिछले अनुकरण के प्रयासों में।"

भारतीय मनीषियों का लक्षण रहा है कि वे जब भारतीय दर्शन को नया रूप देना अथवा उसकी नयी व्याख्या करना चाहते हैं, तब वे प्रस्थानत्रयी (गीता, उपनिषद् और ब्रह्म सूत्र) की व्याख्या करते हैं। प्रस्थानत्रयी में भारत वर्ष की श्रेष्ठतम दार्शनिक अनुभूतियाँ केवल पुस्तकों में ही सीमित नहीं है उनका सार भारतवासियों के रक्त में मिश्रित है। उनका स्वभाव में समाया हुआ है, उनके विचारों और भावों के मूल में प्रतिष्ठित है। धर्म यहाँ वह है जो सन्तों के जीवन में दिखलाई पड़ता है, जैसा कि रामकृष्ण और गाँधी के जीवन में वह दिखलायी पड़ा था। श्री रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने प्राचीन दर्शनाचार्यों के समान प्रमुख उपनिषदों की व्याख्या

लिखी है लेकिन उन्होंने ये व्याख्यान नये युग के सन्दर्भ में की । वे उपनिषद पुत्र कहे जाते हैं । उपनिषदों की गोद में उनका विकास हुआ । उपनिषदों के गाम्भीर्य की महिमा से वह आनन्दित हुए थे । उपनिषदों में ब्रह्म को " रस वैस: " की संज्ञा दी गई है । रवीन्द्रनाथ ने इस ब्रह्म का अनुभव किया था । यही कारण है कि उनकी वाणी में उपनिषदों का रस मिलता है । किन्तु रवीन्द्र मूलत: अनुभूति के कवि थे । उनके दार्शनिक चिन्तन का आधार अनुभूति है और इसी अनुभूति को उन्होंने अपने काव्य में वाणी दी है ।

रवीन्द्र और गांधी, इन दोनों मूर्तियों के माध्यम से भारत ने पश्चिमी जगत को यह विश्वास दिलाया कि उसकी आत्मा अभी मरी नहीं, बल्कि, पूर्ण रूप से जीवित और चैतन्य है । अनादिकाल से भारत उच्च तथा सूक्ष्म मानवता का सबसे जाज्वल्यमान प्रतिनिधि रहा है, जिसकी अन्य देशों में सिर्फ कल्पना की जाती रही है, गांधीजी के विषय में आइंस्टाइन ने कहा था कि कई पीढ़ियों के बाद लोग जब गांधीजी का चरित्र पढ़ेंगे तब उन्हें यह विश्वास नहीं होगा कि ऐसा कोई मनुष्य किसी समय सचमुच जिन्दा था । रवीन्द्रनाथ की कविताएं जब ईट्स के सामने पहले-पहल आयीं तब उसने अपने साहित्यिक मित्रों से चकित होकर कहा कि भारत में तो एक ऐसा कवि उत्पन्न हुआ है, जो हम सबों से कहीं श्रेष्ठ और महान् है । रवीन्द्र की कविता में जो दिव्यता, कोमलता और सांस्कृतिक पवित्रता व्याप्त थी, उससे चकित होकर कवि एजरा पाउण्ड ने, बड़ी ही विनयशीलता के साथ, कहा कि जब मैं टगोर से विदा होता हूं तब मुझे मन-ही-मन यह भान होने लगता है कि मैं उनकी तुलना में वह असभ्य

मनुष्य हूँ जो अभी खाल ही पहने हुए है और जिसके हाथ में मात्र पत्थर की लाठी पड़ी हुई है। आयरलैण्ड के उस मेधावी चिन्तक स्वर्गीय जार्ज रसल ने लिखा है जिसने रवीन्द्र को नहीं देखा वह इस बात को समझ ही नहीं सकता कि पूर्व-कालीन संसार में मनुष्यों की आत्मा पर कवि की आत्मा का वैसा अभेद्य साम्राज्य क्यों था।

4·1·1· रवीन्द्र का दार्शनिक चिन्तन :-

रवीन्द्रनाथ की दार्शनिकता और आध्यात्मिकता भारतीयता से अनुप्राणित है। टैगोर के दर्शन में ईश्वर, मनुष्य और प्रकृति तीन मूल तत्त्व हैं। तीनों एक अनिवार्य सम्बन्ध से बँधे हुये हैं। इनमें प्रमुखता मनुष्य ही की है। ईश्वर सभी वस्तुओं एवं जीवों का आधार है, तथा बिना प्रकृति के मनुष्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। तथापि टैगोर ने ईश्वर और प्रकृति दोनों की अवधारणा मानवीय रूपों में ही की है। ईश्वर तथा प्रकृति के सम्बन्ध में हम जो कुछ भी जानते है वह हमारा अनुभव है। इस अनुभव के परिप्रेक्ष्य में ही ईश्वर तथा प्रकृति का चित्रण संभव है। इसलिए टैगोर का ईश्वर मनेर-मानुष है और प्रकृति के सभी व्यापार मनुष्य के लिये होते हैं। उनके अनुसार ईश्वर तथा जीव ही सृजनशील नहीं है, प्रकृति भी निरन्तर सृजनरत है। टैगोर के दर्शन में प्रकृति एवं मनुष्य में विरोध नहीं, मैत्री है। लगता है प्रकृति का सारा वैभव मनुष्य के ही लिये हैं।

रवीन्द्रनाथ को विरासत में जो दुनिया मिली थी अथवा जिस विश्व को उन्होंने अपने लिए रचना की वह आनन्द और सौन्दर्य का विश्व था। यह वह दुनिया है जिसे धूल और धुएँ से कोई वास्ता नहीं, यह वह

संसार है जहाँ लोहे और पत्थर भी पिघलकर चाँदनी बन जाते हैं। मगर धरती का चमत्कार भी असर रखता है और कलाकार चाहे जहाँ भी जाकर छिपजाय, वह इस चीत्कार को सुने बिना नहीं रह सकता। रवीन्द्रनाथ की चेतना अत्यन्त विकसित थी, अतएव यह चमत्कार उन्हें स्वदेशी-आन्दोलन से भी बहुत पूर्व उन्नीसवी सदी में ही सुनायी पड़ा था जबकि अपने आपको सम्बोधित करते हुए उन्होंने लिखा था --

उ रे, तुई उठ आजि
आगुन लेगे छे कोथा ? कार शंख उठियाछे बाजि
जागते जागत जने ? कोथा होते ध्वनिछे क्रन्दने
शून्यतल ? कोन अन्धकारा माझे जर्जर बन्धने
अनाथिनी मांगिछे सहाय ?

x x x x

कवि, तबे उठे एसो यदि थाके प्राण
तब ताई लहो साथे, तबे ताई करो आजिदान
बड़ो दु:ख, बड़ो व्यथा, सम्मुखेते कष्टेर संसार
बड़ोई दरिद्र, शून्य बड़ो क्षुद्र, बद्ध अन्धकार।

x x x x

स्वर्गेर अमृत लागि पबे धन्य हबे मोर गान
शत शत असंतोष महागीते लभिबे निर्माण

उपर्युक्त कविता से स्पष्ट झलकता है कि रवि बाबू को देश की पीड़ाओं की बड़ी ही तीव्र अनुभूति हुई थी और उनमें यह उमंग भी पैदा हुई थी कि बड़े-बड़े आदर्शों के हवाई महल को है। कहो कि अपना दु:ख

मिथ्या है, अपना छोटा सुख भी मिथ्या है जो व्यक्ति स्वार्थ में निमग्न होकर बड़े जगत से दूर रहता है, उसने अभी जीना नहीं सीखा ।"

रवीन्द्रनाथ का अपने देश भारत के प्रति अपार प्रेम था । इस प्रेम को उन्होंने अपनी कविताओं द्वारा समय-समय पर व्यक्त किया है । वे भारत के प्राचीन आदर्शों एवं गौरव से प्रभावित थे । उन्हीं आदर्शों की स्थापना के वे स्वप्न देखा करते थे । उनका भारत के प्रति प्रेम निम्न अंश से जाना जा सकता है । रवीन्द्रनाथ ने कहा था --

"मैं भारत में गरीबी, दुःख और अभाव के होते हुए भी बार-बार जन्म लेना चाहूँगा । भारत मुझे सबसे अधिक प्रिय है ।"

4·1·2· रवीन्द्र की राष्ट्रीयता :-

रवीन्द्रनाथ हमारे राष्ट्रीय कवि हैं, क्योंकि उन्होंने भारतवर्ष की आत्मा के गौरव की जैसी व्याख्या की वैसी पहले और किसी ने भी नहीं की थी । उनका महत्व इसलिए और भी बढ़ जाता है, क्योंकि वे एक ऐसे समय में उत्पन्न हुए जब कि भारतवर्ष को एक ऐसे व्याख्याता की आवश्यकता आन पड़ी थी, जिसकी वाणी को केवल स्वदेश ही नहीं, विदेश भी समझे । अपनी समस्त विविधताओं के बीच भारत की जो सनातन आत्मा सर्वत्र व्याप्त रही है । अपने सारे उत्थान और पतन में भारतवर्ष जो मानवात्मा की निरवच्छिन्नता से चिपटा रहा है, अपनी मौलिक समृद्धियों के ह्रास के बीच भी भारत जो दिव्यता की ओर से विमुख नहीं हुआ है, इन सारी विलक्षणताओं को रवि बाबू लिखने आये थे ।

रवि बाबू किसी भी समय उत्पन्न होने पर भारत वर्ष का मस्तक ऊँचा कर सकते थे। किन्तु जिस समय वे उत्पन्न हुए वही उनका ठीक समय था। ऐसा लगता है मानों विरञ्चि की पोथी में भारत वर्ष के भाग्योदार का जो लेखा पहले से ही लिखा हुआ था, उसके क्रम में, इस विशाल एवं गौरव-शाली देश की आत्मा बहुत दिनों से रवीन्द्रनाथ की प्रतीक्षा कर रही थी। प्रत्येक युग, थोड़ी बहुत मात्रा में, अपने कवि और व्याख्याता की प्रतीक्षा किया करता है। किन्तु रवीन्द्रनाथ की प्रतीक्षा एकदम ऐतिहासिक महत्व की थी और जब वे आये तब उन्होंने अपना मिशन कुछ ऐसी विलक्षणता के साथ पूर्ण किया जैसा और कोई नहीं कर सकता था।

महाकवि का जन गण-मन गीत आज देश का राष्ट्रीय गीत है। इसमें देश की एकता का प्रदर्शन है। परन्तु भारत भाग्य विधाता एवं जन-मन-गण अधिनायक दो व्यक्ति नहीं अपितु एक ही परमपिता परमेश्वर है। "नैवेद्य के एक गीत में कवि भारत में उसी स्वर्ग को जगाने की प्रार्थना करते हैं - जहाँ हृदय भय शून्य हैं। मस्तक ऊँचा है, ज्ञान मुक्त है, जहाँ घर की दीवार दिनरात अपने आँगन में वसुधा को खण्ड-खण्ड रूप में विभक्त किये हुये नहीं हैं।

चित्र जेथा भय शून्य, उच्च जेथा शिर
ज्ञान जेथा मुक्त, जेथा गृहेर प्राचीर
आपन प्रांगण तले दिवस शर्वरी
वसुधारे राखे नाई खण्ड क्षुद्र करि।"

देश के कल्याण की कामना करते हुये परमात्मा से जिन शब्दों में महाकवि देश का चित्रण करते हैं उसमें उनके हृदय की छिपी हुई पीड़ा व्यक्त होती है --

" अन्धा साँप अँधेरे गड्ढे में रहता है, उसे अपने ही मस्तक के रत्न प्रदीप का हाल नहीं मालूम । सूर्य के प्रकाश का भी उसे कोई ज्ञान नहीं । इसी प्रकार हमारा यह देश भी अँधेरे में पड़ा हुआ है ।"

रवीन्द्रनाथ देश भक्त तो थे परन्तु अपनी देश-भक्ति का ढोल नहीं पीटते थे - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है -- " रवीन्द्रनाथ अन्तर्मुखी साधक थे । हल्ला गुल्ला करके, ढोल पीट के, गला फाड़ के, लेक्चर बाजी करके जो आन्दोलन किया जाता है वह उन्हें उचित नहीं जँचता था । देश में करोड़ों की संख्या में दलित, अपमानित, त्रिस्त, निर्वस्त्र लोग हैं, उनकी सेवा करने का ठीक वही रास्ता नहीं है जिस पर वाग्वीर लोग शासक वर्ग को धमकाकर चला करते हैं । शौकिया ग्रामोद्धारा करने वालों के साथ उनकी प्रकृति का एक दम मेल नहीं था । जो लोग सेवा करना चाहते हैं उन्हें चुपचाप सेवा में लग जाना चाहिये । सेवा का विज्ञापन सेवा-भावना का विरोधी है ऐसा उनका विश्वास था ।"

हुमायूँ कबीर ने उनके देश-प्रेम के सम्बन्ध में लिखा है -- " रवीन्द्र नाथ की देशभक्तिपूर्ण कवितायें भी समग्र मानव जाति की भावना से अनुप्रेरित हैं । रवीन्द्रनाथ के लिए देश प्रेम एक सहज गुण था जिसमें अपने देश और देशवासियों के लिये प्रेम तो था लेकिन दूसरे देश वालों के प्रति घृणा या हिंसा भाव नहीं था और इस प्रकार से वह देश प्रेम नकारात्मक कभी नहीं था ।"

रवीन्द्र और दिनकर के काव्य में उपलब्ध मानवतावादी चेतना :-

टैगोर का धर्म मानव धर्म है । वे मनुष्य को सर्वोच्च सत्य मानते हैं और उसके आध्यात्मिक विकास में जो भी बाधक है वह धर्म नहीं है । मानवता की सेवा, मानव भावना का विकास ही धर्म का उद्देश्य है । धर्म निष्क्रियता या सन्यास नहीं है ।

टैगोर का मानववाद आध्यात्मिक धरातल पर विकसित हुआ था । इसमें यह धारणा निहित थी कि मनुष्य परमात्मा की सर्वश्रेष्ठ कृति हैं । मनुष्य में परमात्मा का वास है, मनुष्य में जो देवत्व है वही उसे प्रेम के बन्धन में बाँधता है । मनुष्य का अपमान ईश्वर का अपमान है और मानव प्रेम तथा मानव सेवा ही सच्ची ईश्वर भक्ति है ।

मानव को सम्बोधित कर रवीन्द्रनाथ ने कहा है -- "तू आँख खोलकर देख, देवता मन्दिर में नहीं है । जहाँ कृषक खेती कर रहे हैं तथा मजदूर बारहों महीने पत्थर तोडते हुए मार्ग बना रहे हैं वे उन्हीं के बीच उपस्थित रहते हैं । इन लोगों की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए लड़ने का साहस ही परमात्मा के प्रति सच्ची निष्ठा है ।" इससे हमें यह शिक्षा मिलती है कि मानवमूल्य सबसे बढकर है । धर्मशास्त्र, राष्ट्र और समाज के नियम कानून की सार्थकता इसमें है कि वे मनुष्य के मनुष्यत्व में सहायक हों । राष्ट्र, समाज और धर्म के आदर्श चाहे जितने उच्च और उदार क्यों न हों, किन्तु यदि उनके बावजूद मनुष्य का जीवन श्रृंखलित बना रहे, उसमें आत्म विकास का संयोग प्राप्त न होते उनका कुछ भी मूल्य नहीं हो सकता । मनुष्य यदि शरीर से स्वस्थ, मन से सबल और

सतेज तथा हृदय से उदार और विशाल नहीं बना तो फिर राष्ट्र की व्यवस्था और समाज के नियम उसके लिए काम के हो सकते हैं ?

रवीन्द्रनाथ टैगोर मानव अन्तःकरण की पवित्रता को प्रमुख मानते हुए भी व्यक्ति की सामाजिक दायित्व की उपेक्षा नहीं करते थे। उनका कहना था कि "जो व्यक्ति समाज के प्रति अपने कर्तव्य तथा दायित्व की अवहेलना करके शुद्ध जीवन का पूर्णत्व प्राप्त करना चाहता है वह सामाजिक साहचर्य और एकता के आदर्शों के साथ विश्वासघात करता है इस प्रकार हर क्षेत्र में उन्होंने संकीर्णता का विरोध किया।

अपनी स्वाभिमान एवं सेवा भाव की विशिष्टता का परिचय देते हुए कवीन्द्र रवीन्द्र लिखते हैं -- " Give me the strength to make my love fruitful service. Give me the strength never to disown the poor or bend my knees before insolent might. Give me the strength to raise my mind above daily trifles. And give me the strength to surrender my strength to thy with love."

महाकवि को मानवता एवं मानव शक्ति में अखण्ड विश्वास है। मानव शक्ति के विषय में उन्होंने कहा है कि मनुष्य को पृथ्वी पर स्वर्ग निर्माण करने का कार्य सौंपा गया है और विधाता जो कुछ उसे देता है उससे कहीं अधिक मानव सृष्टि को दान कर देता है --

पारवोर दियेच गान, गाय सेइ गान
तार वेशि करेना, से दान
अमारे दियेच स्वर, आमि तारि विशि करदान
बन्धन जा दिले मोरि कीर तारे मुक्ति ते विलीन ।

" पक्षी को तुमने गाना दिया है वह गाना गाता है । उससे अधिक कुछ नहीं दान करता । मुझे स्वर दिया है मैं उससे अधिक दान करता हूँ - मुझे जो बन्धन दिया है उसे मुक्ति में विलीन कर दूँगा ।"

श्री रामनाथ विशी ने रवीन्द्रनाथ के मानव प्रेम के सम्बन्ध में लिखा है -- " रवीन्द्र काव्य का प्रधान रस मानव रस है। सर्व देश एवं सर्वकाल व्यापी मानव ने उनकी प्रतिभा का श्रेष्ठ अभिनन्दन पाया है । अभिनन्दन की यह समग्रता एवं अन्तरिकता और किसी को नहीं मिली है, न तो प्रकृति को न स्वयं भगवान को ।"

श्री हुमायूँ कबीर ने रवीन्द्रनाथ के मानव प्रेम के सम्बन्ध में लिखा है -- " रवीन्द्रनाथ ने धरती को इस लिये भी प्यार किया कि वह मनुष्य की वासस्थली है । अनगिनत कविताओं और गीतों में उन्होंने मनुष्य से हृदय की शायद ही कोई ऐसी संवेदना हो जिसने उनके हृदय को स्पन्दित नहीं किया ।

रवीन्द्र के मानप्रेम सम्बन्ध दिनकर ने कहा है -- रवीन्द्र भारतीय समाज के सुधारक मात्र नहीं है । सच पूछिये तो भारतीय सुधारक राममोहन राय, दयानन्द, केशवचन्द्र, विवेकानन्द और तिलक हुए हैं । गांधी और अरविन्द तथा रवीन्द्र का ध्येय भारतीय समाज से अधिक मानव जाति का

सुधार अथवा रूपान्तरण था । विश्ववाद की जो भावना गाँधी जी के कर्मयोग और अरविन्द की साधना में प्रतिफलित हुई, रवीन्द्र ने उसका सम्पूर्ण दर्शन अपने काव्य में प्रस्तुत किया है ।

विश्वकवि रवीन्द्र की विश्वजनीनता बहुत प्रसिद्ध है । इसलिए लोकहित साधन में लीन मानवतावादी कवि दिनकर की तुलना विश्वकवि रवीन्द्र से करना बहुत सहज है । इन दोनों महाकवियों ने समुन्नत कल्पना को अत्युन्नत स्थान देने पर भी मानव-सेवा-भाव तथा धार्मिक चिन्तन को भी समुचित स्थान दिया । अनुभूतिगत अपनी सूक्ष्मभावनाओं को सुकोमल सरस भाषा में अभिव्यंजित करने में दोनों कवियों को अच्छी सफलता मिली ।

दिनकर मानव के कवि हैं । इनका मानवतावादी दृष्टिकोण अत्यन्त सुदृढ़ है । कवि को सारी धरती दासता के बन्धन में जकड़ी हुई दृष्टिगोचर होती है । देश साम्राज्यवादी तृष्णा से अत्यन्त व्याकुल दिखाई पड़ता है । अपने उद्देश्य की पूर्ति के हेतु विनाशकारी शस्त्रों के निर्माण में लीन लोगों को देख-सुन मानवता कराह उठती है । कवि के हृदय में समस्त मानव-जाति के प्रति सहानुभूति के भाव हैं । उनके काव्यों में समस्त शोषित जातियों के आर्त्तस्वर सुनाई पड़ते हैं । कवि के विचार से भारतीय स्वतन्त्रता का आन्दोलन धरती के समस्त पराधीन देशों का आन्दोलन है और उनका यह विचार " रेणुका " में संग्रहीत " कस्मैदेवाय " में देखा जा सकता है ।

रेणुका में ही कवि समाज में पारस्परिक स्नेह, धार्मिक ऐक्य तथा पर्याप्त सुख-समृध्दि की मंगल-कामना व्यक्त करते हुए कहता है --

"जन जन सन्तुष्ट रहे हिल-मिल आपस में प्रेम बढ़ाकर
धर्म भिन्नता हो न, सभी जन शैलो-तटो में हिल-मिल जायें
उषा के स्वर्णिम प्रकाश में भावुक भक्ति मुग्ध मन गायें ।"[1]

कवि के लिए भारत का भी वही रूप वन्दनीय है, जहाँ मानवता, विश्वशान्ति तथा धर्म से समन्वित हो, व्यक्ति सत्य और न्याय पर अपने प्राणों का उत्सर्ग करने के लिए तत्पर रहे --

उठे जहाँ भी घोष शान्ति का, भारत स्वर तेरा है ।
धर्म-दीप हो जिसके भी कर में वह नर तेरा है ।
तेरा है वह वीर, सत्य पर जो अड़ने जाता है ।
किसी न्याय के लिए प्राण अर्पित करने जाता है ।
मानवता के इस ललाट-चन्दन को नमन करें मैं ।[2]

एक हाथ में करुणा, स्नेह, क्षमा, शान्ति का प्रतीक कमल धारण किये हुए तथा दूसरे हाथ में धर्म से संपृक्त विज्ञान को थामे हुए भारत की कल्पना पूर्णतः मानवतावादी भावनाओं से अनुप्राणित है --

एक हाथ में कमल, एक में धर्म दीप्त विज्ञान
लेकर उठनेवाला है धरती पर हिन्दुस्तान ।"[3]

---

1. रेणुका - दिनकर - पृ. 35.
2. नीलकुसुम - दिनकर - पृ. 95.
3. मृत्ति तिलक - दिनकर - पृ. 2.

4·1·2· अन्तर्राष्ट्रीय भावना :-

रवीन्द्रनाथ विश्वसाहित्य की विभूति हैं । उनके साहित्य और शिल्प पर समस्त विश्व तथा अखिल मानवता को अभिमान है । उनकी वाणी में समस्त मानवता का जयगान किया है । जो सत्ता विश्व सृष्टि की कर्तृशक्ति है और जिसमें परिचालन की प्रबलता है, वही जीव का देह में अन्तर्यामी रूप में अवस्थित रहती है । रवीन्द्रनाथ इस सत्य का साक्षात्कार हमें कराया है ।

रवीन्द्रनाथ को विश्व ने गीतांजलि के गीतों द्वारा जाना । गीतांजलि के गीत उस चिरन्तन सत्य को प्रकट करते हैं जिसका अनुभव संसार का जन-जन करता है । " गीतांजलि " के एक प्रसिद्ध गीत " चित्तजेथा भयशून्य " में कवि ने भारत में जिस स्वर्ग के जागरण की कामना व्यक्त की है वह उनका विश्व प्रेम का, मानवता का एक उच्च गीत है ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने रवीन्द्रनाथ के विश्व प्रेम के सम्बन्ध में लिखा है --

" रवीन्द्रनाथ की स्वदेश-भक्ति उनकी भगवद्-भक्ति की विरोधिनी नहीं थी । उनके ऐसे बहुत थोडे गान हैं जिन्हें निश्चित रूप से स्वदेश भक्ति के गान कहा जा सकता है । ··· फिर यदि वह स्वदेश भक्ति का गान है तो ऐसा कोई देश नहीं जिसके निवासी उसे गा न सकें । रवीन्द्रनाथ के सभी गान सार्वभौम हैं ।" " प्रवासी " में रवीन्द्रनाथ ने कहा है --

सब ठांइ मोर घर आछे, आमि सेइ घर मरि खूँजिया
देशे देशे मोर देश आछे, आमि सेइ देश लव जूझिया ।

x x x

विशाल विश्वे चारि दिके हते प्रति कना मोरे टानिछे
आमार दुआरे निखिल जगत, शत कोटि कर हानिछे ।

(सब जगह मेरा घर है, मैं उस घर को खोजता मारा मारा फिरता हूँ
प्रत्येक देश में मेरा देश है मैं उस देश को समझ लूँगा ।

x x x

विशाल विश्व में चारों दिशाओं से प्रत्येक कोना मुझको
खींच रहा है । मेरे द्वार पर समस्त जगत है जो
करोड़ों हाथों से मुझे धकेल रहा है । (प्रवासी-संचयिता 464)

भारत के दिव्य मूर्तिकरण और प्राचीन गौरव की पुनरूत्थानमयी भावना में आर्य संस्कृति का जयघोष था । तथापि इस सांस्कृतिक पुनरूत्थान की भावना में संकीर्णता नहीं थी । राजनीतिक स्वतंत्रता के उद्देश्य से प्रेरित होकर दिनकर ने हिन्दु-मुस्लिम एकता की भावना का प्रसार किया था । साथ ही गांधीजी के सभी धर्मों की समानता के भाव एवं रवीन्द्र की अन्तर्राष्ट्रीयता अथवा विश्व-संस्कृति की भावना का दिनकर साहित्य पर गहरा प्रभाव था ।

रवीन्द्र के समान दिनकर जी के गीतों में, कविताओं में विश्व प्रेम की वे भावनायें अभिव्यक्त हैं जिन्हें किसी भी देश का प्राणी अपनी निजी भावनायें कह सकता है । दिनकर भी रवीन्द्रनाथ के समान सभी संस्कृतियों का समन्वय चाहते हैं । वे मानव जाति के नाना भेदों प्रभेदों को मिटाकर एक अन्तर्व्यापी सूत्र उपस्थित करते हैं ।

दिनकर की अन्तर्राष्ट्रीयता की पावनभावना प्रान्त एवं देश की संकीर्ण परिधि से ऊपर उठकर अन्तर्राष्ट्रीयता की व्यापक भावना में पर्यवसित हुई है। उनका काव्य सह अस्तित्व, सहिष्णुता, भ्रातृत्व भावना की प्रोतस्विनी धारा से आप्लावित है। निम्नांकित पंक्तियाँ इसका स्पष्ट प्रमाण हैं --

" मैं भी सोचता हूँ जगत से कैसे उठे जिघांसा
किस प्रकार फैले पृथ्वी पर करुणा, प्रेम, अहिंसा
जिये मनुज किस भाँति परस्पर होकर भाई-भाई
कैसे रुके प्रवाह, क्रोध का, कैसे रुके लड़ाई
पृथ्वी पर हो साम्राज्य स्नेह का, जीवन स्निग्ध सरल हो
मनुज प्रकृति से विदा सदा का दाहक-द्वेष गरल हो।"[1]

भारत ने अपनी स्वतंत्रता के साथ साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद से परतंत्र देशों की मुक्ति की कामना की। विश्व शांति की स्थापना में भारत के बढ़ते हुए अन्तराष्ट्रीय महत्व के अनुरूप ही दिनकर के कवि की वाणी है।

" मेरे प्यारे देश या मन को नमन करूँ मैं
भारत नहीं स्थान वाचक गुण विशेष नरका है
एक देश का नहीं शील वह भूमंडल भर का है
उठी जहाँ भी घोष शान्ति का, भारत स्वर तेरा है
धर्म दीप हो जिसको कर में वह नर तेरा है,
तेरा है वह वीर, सत्य पर जो उड़ने जाता है
किसी न्याय के लिए प्राण अर्पित करने जाता है
मानवता के इस ललाट चंदन को नमनकरुं मैं।"[2]

---

1. चक्रवाल - अहिंसा और शान्ति - दिनकर - पृ. 294.
2. आधुनिक हिन्दी साहित्य की विचारधारा पर पाश्चात्य प्रभाव - डॉ. हरिकृष्ण पुरोहित - पृ. 396, 397.

दिनकर हिंसा, पारस्परिक विद्वेष की ज्वाला एवं संत्रास से मुक्त ऐसे आदर्श विश्व की कल्पना करता है, जिस में विश्व-शान्ति की मधुर मंगल ध्वनि निनादित है। यह पृथ्वी उल्लास और ऐश्वर्य का अनवरत सुधा-वृष्टि से अभिषिक्त होती रहे।

सुनेगी शान्ति का कूजन मही सर्वत्र सुख से
गगन पर जो घिरेंगे मेघ वे पीयूष देंगे।"1

दिनकर की राष्ट्रीयता सदैव अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर अग्रसर रही है। लेखक का "कुरुक्षेत्र" का चिन्तन मात्र भारत की सीमाओं में आबद्ध नहीं, वरन् समस्त विश्व की मानव-जाति को केन्द्रस्थान में रखकर ही प्रस्तुत किया गया है। विश्व कल्याण की भावना निश्चय ही उसमें निहित है --

यह प्रगति निस्सीम ! नर का यह अपूर्व विकास
चरणतल भूगोल ! मुट्ठी में निखिल आकाश
किन्तु है बढ़ता गया मस्तिष्क ही निःशेष
छूटकर पीछे गया है रह हृदय का देश
नर मनाता नृत्य नूतन बुद्धि का त्योहार
प्राण में करते दुःखी हो देवता चीत्कार।"2

संसार विश्व-बन्धुत्व की भावनाओं से आबद्ध होगा सभी राष्ट्र अपनी अपनी सभ्यता, संस्कृति तथा स्वतंत्रता को अक्षुण्ण रखते हुए पारस्परिक ऐक्य की भावनाओं से अनुप्रेरित होकर विश्व के एक ही झंडे के नीचे एकत्र हो जायेंगे।

---

1. सीपी और शंख - दिनकर - पृ. 59.
2. कुरुक्षेत्र - षष्ठ सर्ग - दिनकर - पृ. 82.

दोखेगा विश्ववाद का नारा
एकता अनेकता में अपने को खोजेगो
रंग बिरंगे छोटे-छोटे देश
बोलते हुए अपनो अपनो भाषाएँ
पहने हुए अपने अपने वेश
एक हो महफिल में बैठेंगे होकर स्वाधीन
कोई नहों किसो को भी के अधीन ।[1]

दिनकर जो विश्व कल्याण के लिये भारतोय चिन्तन को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं । प्रेम, शान्ति एवं करुणा के श्रेष्ठ विचारों को अपनाकर हो विश्व-शान्ति स्थापित हो सकतो है । इसलिए प्रत्येक राष्ट्र को इस विचार-धारा के अनुकूल बनना पड़ेगा । कवि दिनकर को अन्तर्राष्ट्रीय भावना का सुस्पष्ट अंकन उनको " हिमालय का सन्देश " कविता में मिलता है । इसमें दिनकर को राष्ट्रीयता को भावना का चरम परिपाक दिखाई देता है --

किसो एक को नहों बदलना होगा साथ सभी को
करम होगा ग्रहण शील भारत का निखिल मदो को
शमित करेगा कौन वह्नि का जाल बिछाकर
रोकेगा विस्फोट विश्व को बल से कौन दबाकर ?
तब उतरेगो शान्ति, मनुज का मन जब कोमल होगा,
जहाँ आज है गरल, वहाँ शीतल गंगाजल होगा
देश देश में जाग उठेंगे जिस दिन नर-नारो
साधना इस व्रत को भारो ।[2]

---

1. आत्मा को आँखें - दिनकर - पृ. 71 - 72.
2. चक्रपाल - हिमालय का सन्देश - पृ. 278.

कवि का यह व्यापक दृष्टिकोण है कि यदि सम्पूर्ण विश्व में सुख शान्ति तथा प्रेममय वातावरण स्थापित हो जाए तो प्रत्येक राष्ट्र को उन्नति का समुचित अवसर प्राप्त होगा दिनकर की राष्ट्रीयता की यह विशाल एवं व्यापक अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना विश्व-कल्याण के लिए सतत प्रयत्नशील दिखाई देती है ।

4·1·3· स्वच्छन्दतावाद :-

स्वच्छन्दतावाद रूढ़ियों के खिलाफ विद्रोह है । इसमें क्लासिक परम्परा का विरोध किया जाता है । पुराने बन्धनों को तोड़ा जाता है । ये बन्धन सामाजिक, राजनैतिक, साहित्यिक होते हैं । इस प्रकार स्वच्छन्दतावाद नयी हवा में साँस लेता है, पुरानी सराज से बाहर निकालना है । यह तभी होगा जब सामाजिक परिवर्तन होगा, या नया समाज पुरानी केंचुल को छोड़ने लगता है । और अन्याय को सुधारने जाता है । 19 वीं सदी में जब युरोप का आगमन हुआ तो भारत की प्राचीन सामाजिक व्यवस्था का ढाँचा टूटने लगा । कुछ नये आने लगा । कुछ नये को आने की क्रम में एक नयी चेतना का प्रवाह होता है । साहित्य में इसी को स्वच्छन्दतावाद कहता है । डॉ· स्टेण्ढल के अनुसार " स्वच्छन्दतावाद यथार्थ आदतों एवं विश्वासों को राष्ट्र के सम्मुख उपस्थित करने की ऐसी विधि है जो उन्हें अधिक से अधिक सम्भव आनन्द प्रदान कर सकती है । इसके विरुद्ध परम्परा-वाद इन्हें उस रूप में उपस्थित करता है जो हमारे प्रपितामहों को सर्वाधिक आनन्द प्रदान करता था । § उनके अनुसार § स्वच्छन्दतावाद प्रगति, स्वतन्त्रता, मौलिकता एवं भविष्य कल्पना का प्रतीक है जबकि परम्परावाद पुरातनता, अधिकार, अनुकरण एवं विगत कल्पना का ।" एवट काम्बो का

विचार है कि स्वच्छन्दतावाद यथार्थ से पूर्णरूपेण असम्पृक्त नहीं है । इसमें बाह्य अनुभव के स्थान पर आन्तरिक अनुभव रहता है ।

स्वच्छन्दतावाद के स्वरूप विश्लेषण के आधार पर डा॰ शिवकरण सिंह के शब्दों को कहा जा सकता है -- " स्वच्छन्दतावाद पर फ्रांस की राज्य क्रान्ति, जर्मनी की स्वच्छन्दतावादी विचारधारा, स्वदेशी राजनीतिक स्थिति, औद्योगिक क्रान्ति तथा मध्यकालीन देव-कथाओं का प्रभाव रहा ।"

हिन्दी में स्वच्छन्दतावाद के जन्म के संदर्भ में कहा जा सकता है कि बौद्धिकता, नियमबद्धता की प्रतिक्रिया में स्वच्छन्दतावाद का उदय हुआ । यदि भारतीय साहित्य के परिप्रेक्ष्य में इसके प्रचार-प्रसार को देखा जाए तो, कहा जा सकता है कि इसका उद्भव पहले बंगाल में हुआ । कवीन्द्र रवीन्द्र ने ही आगे के कवियों के लिए मार्ग-दर्शन किया । भारत में स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन के कारण रवीन्द्र की पुस्तक " मानसी " से होता है । इसका प्रकाशन सन् 1890 में हुआ । भारतीय स्वच्छन्दतावाद के प्रवर्त्तक रवीन्द्रनाथ ठाकुर ही हैं । " मानसी " से एक नयी साहित्यिक चेतना आरंभ होती है जिसमें कुतूहल का भाव है, जिज्ञासा है, थोड़ी रहस्य की चेतना है, विद्रोह है, सौन्दर्य प्रेम है, क्या भाषा, क्या भाव, क्या अलंकार, क्या छन्द सभी क्षेत्रों में नयी चेतना प्रादुर्भाव होता है । इसलिए रवीन्द्रनाथ ठाकुर स्वच्छन्दतावाद के प्रवर्त्तक भारतवर्ष में माने जाते हैं । बाद में पूरे भारतीय साहित्य पर उनका प्रभाव पड़ा । हिन्दी में छायावाद का आन्दोलन चला कहते हैं उस पर ठाकुर का काफी प्रभाव है । छायावाद में बहुत कुछ स्वच्छन्दतावाद का प्रभाव है । नवीनता का आग्रह,

विद्रोह की चेतना, सामाजिक क्रांति की भावना, सौन्दर्य प्रेम यह सब छायावाद में मिलता है, यह रवीन्द्रनाथ की कविताओं में भी था। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में संवेदनशील युवक के मन में यह बड़े ही अन्तर्द्वंद्व का काल था। स्वच्छन्दतावादी प्रकृति का हिन्दी साहित्य में बीजवपन हो चुका था, पर सही बात यह थी कि नवीन मानवतावादी स्वच्छन्दतावादी वैयक्तिक दृष्टि भंगी को व्यक्त करने योग्य भाषा अब भी नहीं बन पाई थी। बंगाल के कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर को भी इस कविता का अनुभव करना पड़ा था। अपनी अद्भुत प्रतिभा के बल पर उन्होंने अपने वक्तव्य के अनुकूल भाषा बना ली थी। नवीन हिन्दी कवियों के सामने रवीन्द्रनाथ की वह बंगला भाषा थी।" अन्य कवियों के समान ही दिनकर पर भी रवीन्द्र का प्रभाव पड़ा, तथा साथ ही उन्होंने युग की अभिव्यक्ति भी की है।

दिनकर मूलतः स्वच्छन्दतावादी कवि है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की तरह उनमें सौन्दर्य का प्रेम है और क्रांतिकारी सामाजिक चेतना है। उनका सौन्दर्य प्रेम व्यक्त हुआ है रसवन्ती, द्वन्द्वगीत, नीलकुसुम की कविताएँ और उर्वशी है। उनकी स्वच्छन्दतावादी क्रांतिकारी चेतना व्यक्त हुई हुंकार, सामधेनी, कुरुक्षेत्र, परशुराम की प्रतीक्षा। सौन्दर्य प्रेम-क्रांतिकारी भावना ये विरोधी चीजे नहीं है। राष्ट्रकवि एक ओर सौन्दर्य पर रीझने वाले होते हैं दूसरी ओर उसमें सामाजिक चेतना क्रांतिकारी भी होती है। यह चीज दिनकर में भी है और रवीन्द्रनाथ ठाकुर में भी है। दोनों ही प्रकृति के कवि है। अन्तर इतना ही है दिनकर में राष्ट्रीयता की भावना रवीन्द्रनाथ की अपेक्षा अधिक है। रवीन्द्र में अन्तर्राष्ट्रीयतत्व बहुत अधिक है। दिनकर में राष्ट्रीयता तत्व अधिक है। लेकिन ये विषय वस्तु का अन्तर है। बुनियादी तौर से रवीन्द्र भी स्वच्छन्दतावादी कवि है और दिनकर भी। दिनकर स्वच्छन्दतावादी की उपाधि है।

दिनकर का प्रेम सौन्दर्य परक काव्य अपनी प्रकृति में रोमांटिक है। रोमैंटिसिज्म के विषय में दिनकर का मत है "रोमांस एक अर्थ प्रेम भी होता है, किन्तु यहाँ भी, अधिक स्थलों पर रोमांस व्याप्त गुण है जो राजनीति परिणाम पर ध्यान दिए बिना जनता को अंधी क्रान्ति की ओर झोंकते हैं, साहित्य में उन्हें भी रोमांटिक कहने का रिवाज है। अर्थात् रोमांटिक विशेषण हम उस व्यक्ति के लिए करते हैं जो बुद्धि से अधिक भावना के अधीन होता है।

दिनकर के काव्य को सुकुमार और रोमैंटिक सिद्ध करते हुए डॉ॰ विजेन्द्रनारायण सिंह ने कहा है - "दिनकर पैदाइशी रोमांटिक कवि हैं। रोमांटिक कवि सुकुमार मनोवृत्ति का होता है। सुकुमारता के कारण उनके अधिकांश बिम्ब या तो नारी के गृहीत होते हैं या प्रकृति से। साथ ही रोमांटिक कवि वैसे बिम्बों को अधिक चुनता है जिनका बिम्ब तार्किकता से कम होता है।"

दिनकर आवेग के कवि हैं। यह आवेग उनके राष्ट्रीय काव्य में ही नहीं बल्कि प्रेम सौन्दर्य परक काव्य में भी अपनी स्थिति बताये हुए हैं। यदि हम कवि के उपर्युक्त वक्तव्य को आधार मानें तो निश्चित रूप से वे रोमांटिक कवि हैं। वैसे भी जब जीवन की समस्त वास्तविकता में आन्तरिक अनुभव सर्वोपरि महत्व प्राप्त करता है, परन्तु इससे भी आगे, जब केवल उसी का महत्व देता है, तब स्वच्छन्दतावाद का जन्म होता है।

रवीन्द्रनाथ की कविता "निर्झरेर स्वप्न भंग" भारतीय कविता में स्वच्छन्दतावाद का घोषणा पत्र कही जाती है। उसमें निर्झर की उक्ति है। जागिया उठेछे प्राण, ओरे उथलि उठेछे वारि, ओर। प्राणेर वेदना प्राणेर आवेग रुधिये राखिते नारि।" इस कविता का दिनकर के "रेणुका"

में मंगल आह्वान कविता पर प्रभाव देखा जा सकता है । दोनों कविता ये भाव प्रधान हैं । दोनों मानस निर्झर है । जिस प्रकार निर्झर स्वप्न भंग का कवि कविता लिखते समय आत्म विस्मृत हो गया वैसी ही अनुभूति दिनकर को हुई । " मंगल आह्वान " कविता में दिनकर जो भी कहते हैं भावों के आवेग प्रबल । मचा रहे उर में हलचल । निर्झर स्वप्न भंग में निर्झर आगे अपनी आकांक्षा इन शब्दों में व्यक्त करता है, आमि जगत प्लाविया बेड़ाव गहिया आकुल पागल पारा । मंगल आह्वान में दिनकर जी के भी भाव कहते-उरे के बाँध तोड स्वर स्रोतों में बह वह अनजान । तृण, तरू, लता, अनिल, जल, थल को छालेंगे हम बनकर गान । प्राण भंग काव्य में अन्तर्निहित कवि की शक्ति इस कविता में स्वच्छन्तावादी रूप में पूरे वेग के साथ प्रकट होती है ।

आवेग रोमांस या स्वच्छन्दाता का एक अपरिहार्य तत्व है । दिनकर ने प्रेम और सौन्दर्य परक काव्य में अनेकशः आवेग तत्व का काव्यमय उपयोग किया है ।

" रूप का रसमय निमन्त्रण
या कि मेरे ही रुधिर की वहिन
मुझको शान्ति से जीने न देती
हर घड़ी कहती उठो,
इस चन्द्रमा को हाथ से धर कर निचोड़ो
पान कर लो यह सुधा, मैं शान्त हूंगी
अब नहीं आगे कवि उद्भ्रान्त हूंगी ।" 1

---

1. उर्वशी - तृतीय सर्ग - दिनकर - पृ. 46.

इस प्रकार दिनकर के प्रेम सौन्दर्य परक में रोमांस की आवेगमयी स्थिति कवि की निजी विशेषता है ।

सौन्दर्य को रवीन्द्र ने भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों रूपों में स्वीकार किया है । उनका मत है मनुष्य में केवल आकृति की सुन्दरता नहीं होती, अपितु उसमें चेतनता की दीप्ति, बुद्धि की स्फूर्ति और हृदय का लावण्य भी होता है ।"

4·1·3·1· सौन्दर्य :-

रवीन्द्र सिद्धांततः अन्तर्मुखी सौन्दर्य के उपासक हैं । अज्ञात रूप से अन्तर्जगत् की कल्पना को साकार करनेवाले दृश्यलोक के प्रत्येक कम्पन में उन्हें सौन्दर्य की छाया छटपटाती नजर आती है । उनकी दृष्टि केवल बाह्य रूप-रंग पर ही नहीं टिकी, वरन् उन्होंने निसर्ग और चिरंतन सौन्दर्य को स्थूल प्रक्रियाओं से उठकर अध्यात्मिक दीप्ति प्रदान की है । वे लिखते हैं -- " केवल आँखों के द्वारा नहीं, उसके पीछे यदि मन की दृष्टि मिली हुई न तो सौन्दर्य को अच्छी तरह परखा नहीं जा सकता ।" आगे वे कहते हैं -- " जिस प्रकार ज्ञान क्रमशः समस्त सत्य को हमारी बुद्धि-शक्ति की अधीनता के भीतर लाने के लिये सदैव प्रयत्नशील है, उसी प्रकार सौन्दर्य-बोध भी समस्त सत्य को क्रमशः हमारे आनन्द के अधिकार में लायेगा । उसकी एकमात्र सार्थकता इसी में हैं । जहाँ जहाँ सत्य की उपलब्धि होती है, वही हम आनन्द को देख पाते हैं । जब द्वन्द्व मिट जाता है तब सब कुछ सुन्दर हो जाता है अर्थात् सत्य और सुन्दर एक हो जाते हैं । हम समझ सकते हैं कि सत्य की यथार्थ प्राप्ति आनन्द है और वही परम सौन्दर्य भी है ।

रवीन्द्र का सम्पूर्ण साहित्य सौन्दर्य की साधना है । उनके अन्तस् में सौन्दर्य-दीप्ति जब प्रखर हो उठती है तो असुन्दर मानो पर्दे की ओट में होकर उनकी दृष्टि से ओझल हो जाता है और सौन्दर्य उद्भासित होकर उनके अन्तर्वाह्म को दिव्य अलोक से इस प्रकार भर देता है कि विश्व का कण-कण उन्हें विचित्र आभा से ओतप्रोत दीख पड़ता है ।

" जगतेर मर्म हते । मोर मर्मस्थले
आनितेछे जीवन लहरी
विश्वेर निःश्वास लागि जीवन कुहरे
मंगल आनन्द-ध्वनि बाजे ।

जगत् के मर्म से मेरे मर्मस्थल में जीवन लहरी खिंची आ रही है । जीवन कुहर में निःश्वास संलग्न होने से मंगल और आनन्द की ध्वनि बज रही है ।

कवि बन्धनों से परे अनन्त सौन्दर्य में व्याप्त होना चाहता है । उसकी अन्तर्मुखी चेतना विराट छवि से तादात्म्य कर लेती है ।

कवि दिनकर ने भी सौन्दर्य के दोनों भौतिक एवं आध्यात्मिक-रूपों को स्वीकृति प्रदान की है । इसी कारण कवि ने एक ओर तो अपने काव्य में सौन्दर्य के पार्थिव एवं भौतिक रूप की मनोरम झांकियाँ अंकित की है और दूसरी ओर उसके अपार्थिव एवं आध्यात्मिक या अतीन्द्रिय रूप का निरूपण भी किया है । कवि दिनकर ने पार्थिव सौन्दर्य का चित्रण तीन रूपों में किया है, जिसे सुविधा की दृष्टि में रूप सौन्दर्य, भावसौन्दर्य, और कर्म सौन्दर्य के नाम से तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं । कवि के रूप सौन्दर्य, भाव सौन्दर्य और कर्म सौन्दर्य के नाम से तीन भागों में विभाजन कर सकता है ।

कवि के रूप सौन्दर्य को पुन: मानवीय रूप सौन्दर्य और प्राकृतिक सौन्दर्य के नाम से दो भागों में विभक्त कर सकता है । मानवीय रूप सौन्दर्य को छटा यहाँ पुरुष सौन्दर्य और नारी सौन्दर्य के रूप में अंकित हुई है ।

दिनकर का प्रेम सौन्दर्य परक काव्य इसलिए भी विशिष्ट है कि उसमें प्रेम और सौन्दर्य के प्रकृत सत्य को जान लेने का ललक है । उन्होंने कवि-धर्म को क्योंकि पूरे समर्पण भाव के साथ स्वीकार किया था । अत: प्रेम और सौन्दर्य उनके लिए अतृप्ति और कुण्ठा के विषय कभी नहीं रहे । उन्होंने प्रेम और सौन्दर्य के मूल में निहित उस सत्य के संधान का प्रयत्न किया है जो मनुष्य मनुष्य के बीच आकर्षण का मूल आधार है । प्रेम और सत्य को पाने को इस प्रक्रिया में उनको यात्रा यथार्थ है और आदर्श दोनों मार्गों पर हुई है । यथार्थ से वे प्रेम और सौन्दर्य के अमूर्त अनुभव को मांसल बनाते हैं और आदर्श से वे उसमें दर्शन को प्राण प्रतिष्ठा करते हैं । " रसवन्ती " से ही कवि में प्रेम और सौन्दर्य के अनुभवों के प्रति सम्भ्रम एवं कौतूहल का भाव रहा है । प्रेम को वह काव्यमय परिभाषा देना चाहता है । या यों कहें कि प्रेम के वक्तव्यों को वह काव्य को आत्मा से एक पिघलाव देना चाहता है --

" प्रीति न अरुण सांझ के घन सखि !
पल भर चमक बिखर जाते जो
मना कनक-गोधूलि लगन सखि !
प्रीति नील गम्भीर गगन सखि !
चूम रहा जो विनत धरणि को
निज सुख में नित मूक मगन सखि ! " 1

---

1. उर्वशी - तृतीय सर्ग - दिनकर - पृ. 46.

उर्वशी में कवि उर्वशी आदि अप्सराओं के दैहिक सौन्दर्य वर्णन के माध्यम से हमें कवि के सौन्दर्य चित्रण को शक्ति का परिचय मिलता है । स्वर्ग से अवतरित अप्सरियाँ स्वर्ग को सुषमाएँ है जिनकी वाणी से फूल झरते हैं जिनके आनन पर पुष्प रेणु दमकते है । स्वर्ग का कमनीय पुष्प-उर्वशी का रूप सौन्दर्य कितना आकर्षक और मादक है --

" इस लिए तो सखी उर्वशी, उषा नन्दन वन की
सुर पुर की कौमदी, कलित कामना इन्द्र के मन की,
सिध्द विरागी की समाधि में राग जगाने वाली,
देवों से शोणित में मधुमय आग लगाने वाली,
रति की मूर्ति, रमा की प्रतिमा, तृषा विश्वमय नर की
विधु की प्राणेश्वरी, भारती शिखा काम के कर की "[1]

दिनकर ने जहाँ जहाँ नारी का अंकन किया है वहाँ वे नारीत्व की काव्यमय परिभाषा देना चाहते है । " रसवन्ती " की " नारी " और " उर्वशी " में उनका निष्कर्ष यही है कि नारी का मातृ रूप ही उसके सौन्दर्य की चरम सिध्दि है । उर्वशी में मेनका नारी के मातृरूप में इसी शाश्वत सौन्दर्य को अभिव्यक्ति देती है --

गलती है हिमशिला सत्य है गठन देह की खोकर ?
पर हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर ?
युवा जननि को देख शान्ति कैसी मन में जगती है ।
रूपमती भी सखी ! मुझे तो वही त्रिया लगती है ।
जो गोदी में लिए क्षीर मुख शिशु को सुला रही हो ।
अथवा खड़ी प्रसन्न पुत्र का पलना झुला रही हो ।[2]

---

1. उर्वशी - तृतीय सर्ग - दिनकर - पृ.
2. रसवन्ती - हाट की कोयल - दिनकर - पृ. 26.

उर्वशी का जन्म ही इस निमित्त हुआ कि वह पुरूष के हृदय में निवास करने वाली सौन्दर्य प्रतिमा के रूप में अंकित हो जाए। उर्वशी का सौन्दर्य ही वह तत्व है जो पुरूरवा के द्वन्द ग्रस्त मन का शमन करता है।

" रसवन्ती " की " गीत-अगीत " कविता द्वारा सौन्दर्य के आत्मिक भाव को कवि ने व्यक्त किया है। पुरूष के बाह्य सौन्दर्य से प्रकृति आकर्षित तो अवश्य होती है, परन्तु उसे सुख तो आत्मिक सौन्दर्य में ही मिलता है। इस कविता का अंतिम अंश बड़ा ही मार्मिक है जहाँ गीतालाप को सुनकर खिंचती है, परन्तु वह छिपी-छिपी यह कामना करती है कि वह प्रिय के ओठों से निर्गत गीतों की पंक्ति बन जाय --

" चोरी-चोरी खड़ी नीम की छाया में छिपकर सुनती है
हुई न क्यों मैं कड़ी गीत की बिधना यों मन में गुनती है।
वह गाता, पर किसी वेग से फूल रहा इसका अन्तर है।

कवि की सौन्दर्य भावनाओं का द्विधा-मुक्त सौन्दर्य रूप सर्व प्रथम " रसवन्ती " में ही व्यक्त हुआ है। कवि " रसवन्ती " को खोजने के लिए अमृत देश की ओर अग्रसर होती है और वह समस्त संघर्षों के बीच से " रसवन्ती " को स्वर्ग से धरा पर उतारता है। " बालिका से वधू " रचना में कवि ने किशोरी का वह रूपांकन किया है जो यौवन की देहरी पर पांव रख रही है --

" माथे में सिन्दूर पर छोटी दो बिन्दी चम-चम-सी
पपनी पर आँसू की बूँदे मोती-सी, शबनम-सी।
पीली चीर कोर में जिसके चकमक गोटा-जाली
चली पिया के गाँव उमर के सोलह फूलों वाली।"

किशोरी जिसके होठों पर प्रियतम से मिलने
की स्मित-रेखा है और नयनों में अश्रु के कण हैं।"

4·1·3·2· रहस्यवादी भावना :-

रहस्यानुभूति स्वच्छन्दतावादी काव्य की एक महती विशेषता रही है। दिनकर, रवीन्द्र की तरह स्वच्छन्दतावाद की इस विशेष से अछूते नहीं रहे। उन्होंने अनिवेश: अदृश्य सत्ता के प्रति अपने सहज कौतूहल भाव को व्यक्त किया है --

" पट-पर-पट में खींच हटाता
फिर भी कुछ अदृश्य रह जाता
यह मायामय भेद कौन ?
मन को अब तक समझा न सका मैं।"[1]

4·1·3·3· सामाजिक यथार्थ :-

" कविता की पुकार " शीर्षक कविता उनकी (दिनकर की) स्वच्छन्दतावादी भावभूमि को पूरी तरह स्पष्ट कर देती है। इस कविता की विशेषता न केवल व्यक्त यह आग्रह है कि कविता को सामाजिक यथार्थ के चित्रण का माध्यम होना चाहिए। बल्कि यह भी है इसमें दिनकर जी ने अपनी विशिष्ट शैली में ग्रामीण परिवेश का अत्यन्त सजीव अंकन किया है।

1· रसवन्ती - दिनकर - कविता - शेषगान - पृ· 102·

स्वर्णा चला रहा । खेतों में उतरो संध्या श्याम परो
रोम न्थन करतो गायें आ रहों रौंदतो घा तृरो
घर घर से उठ रहा धुंआ, जलते चूल्हे बारो-बारो
चौपालों में कृषक बैठे गाते वहँ अटके बनवारो ?
पनघट से आ रहो पोतवसना युवतो सुकुमार
किसो भाँति ढोतो गगर यौवन का दुर्वाह भार ।

4·1·4· निष्कर्ष :-

निष्कर्ष में हम यह कह सकते हैं कि दिनकर के काव्य में यदि एक ओर प्रेम सौन्दर्य परक है तो दूसरो ओर क्रांतिकारो सामाजिक चेतना परक काव्य है । राष्ट्रकवि एक ओर सौन्दर्य पर रोझनेवाले हैं दूसरो ओर उसमें सामाजिक चेतना क्रांतिकारो भी होतो है । यह दोनों में दिखता है । इसो प्रकार रवोन्द्र का गहरा प्रभाव दिनकर के काव्य पर पड़ा ।

4·2· काजो नजरुल इस्लाम :-

भारतोय साहित्य में यदि किसो कवि के लिए विद्रोहो विशेषण का प्रयोग किया जा सकता है तो वे हैं बंगला भाषा को एकता के सबसे बड़े प्रतिनिधि कवि काज़ो नजरुल इस्लाम । वे एक धूमकेतु को तरह साहित्याकाश में चमके और उनका व्यक्तिगत जोवन भी धूमकेतु को तरह रहा । रवोन्द्रनाथ ठाकुर के सूक्ष्म भावाभिव्यंजन, उन्मुक्त काल्पनिक उड़ान और वायवो तरलता के बोच काजो नजरुल इस्लाम ने विद्रोह का स्वर फूँका । उनमें क्रांति-दृष्टि विद्यमान थो । वे ओज एवं पौरुष के कवि थे, वे उद्दाम यौवन के कवि थे, ठोक उसो प्रकार जैसे आधुनिक युग में " दिनकर " ।

नजरुल इस्लाम ने कहा था - " लोगों, मुझे चिन्ता नहीं कि भविष्य मुझे याद रखेगा कि नहीं, इच्छा केवल इतना ही है कि जो करोड़ों व्यक्तियों को तड़पा रहे हैं उनके लिए मेरी लेखनी की ये जर्जर पंक्तियाँ मृत्यु की संदेश-वाहक बन जायँ। जो जोंक बनकर जनता का रक्त चूस रहे हैं, जो मिट्टी पर बैठना अपना अपमान समझते हैं, जो अपनी संतान का रक्त पिलाकर धरती को सरसब्ज बनाना चाहते हैं उन्हें जीने का कोई हक नहीं है।

यद्यपि नजरुल इस्लमा भी रवीन्द्रधारा के कवि हैं, किन्तु वे केवल रवीन्द्र के इतस्ततः चक्कर नहीं काटते। उनमें नवीनता का पुट है, पर्याप्त ताजगी है, भाषा पर अधिकार है। रवीन्द्र अथवा रवीन्द्रानुसारी कवियों की कोमलता नजरुल की कविता में नहीं है। उनका काव्यजगत् बिल्कुल भिन्न प्रकट का है। उन्होंने स्पष्ट अनुभव किया है कि जीवन और जगत में दुःख की ज्वाला धू-धू करके जलती रहती है।

इस सन्दर्भ में डॉ॰मन्मथनाथ गुप्त का कथन है -- " रवीन्द्र काव्य बंगला साहित्य का सबसे बड़ा सम्पदा है, पर काजी नजरुल का महत्व एक दृष्टि से उनसे भी अधिक है। वह यह कि वे संयुक्त बंगाल के पुनरुत्थान में सबसे बड़ी शक्ति है। आगे उन्होंने कहा है - " नजरुल बंगाल के एक ऐसी शक्तिशाली कवि थे जिनकी कविता ने बंगला साहित्य में बड़ी उत्तेजना उत्पन्न की थी। वे रवीन्द्रयुग की ही उपज है, इस युग की उपज होते हुए अपने को एक दिग्गज के रूप में प्रतिष्ठित किया।"[1]

नजरुल इस्लाम के सन्दर्भ में डॉ॰रामधारी सिंह दिनकर जी ने लिखा है -- " नजरुल एक राष्ट्रीय कवि हैं जिनमें पराधीन भारत को जगाने की तीव्र आकांक्षा थी। उर्दू में जो काम जोश ने किया बंगला में लगभग वही काम

---

1. प्रगतिवाद की रूप रेखा - मन्मथनाथ गुप्त - पृ॰ 198॰

नजरूल ने । पूर्व बंगाल में विद्रोही की पहलीवाणी लेकर वे आए । क्रान्तिकारी के रूप में उन्होंने रूढ़ियों और जर्जर परम्पराओं को तोड़ना चाहा । इनकी इस विद्रोहात्मक प्रवृत्ति को सराहना करते हुए दिनकर जी लिखा है --

कलम आज उनकी जयबोल
जला अस्थियाँ अपनी सारी
छिटकायी जिसने चिनगारी
जो चढ़ गए पुण्य वेदी पर
लिए बिना गर्दन का मोल
कलम, आज उनकी जयबोल ।[1]

दिनकर और नजरूल की युगभूमि तथा तत्कालीन साहित्यधारा :-

नजरूल का उदय प्रथम विश्वयुद्ध के बाद एक "धूमकेतु" की तरह हुआ । उन्होंने "अग्निवीणा" से "विद्रोही" स्वर मुखरित किया । उनकी कविता में ओज गुण की प्रमुखता बंगला कविता के लिए नयी प्रवृत्ति है, जो उन्हें रवीन्द्रधारा से अलग करती है । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है, उनकी "विद्रोही" शीर्षक कविता । इस कविता की बड़ी धूम थी, इसमें बम, माइन, डिनामइट, टारपेडो आदि पदों की भरमार है ।

आमि विद्रोही भृगु
आमि भगवान बुके ऐके देगे पदचिह्न
आमि सृष्टि सूदन
शोक-ताप-हाना खेयाली विधिर
बक्षो कोरिब छिन्न ।

---

1. मधुमती - फरवरी 1971 - पृ० 7.

मैं विद्रोही भृगु हूँ । मैं भगवान के वक्षस्थल पर अपने चरणों का चिन्ह अंकित कर दूँगा । मैं सृष्टि संहारक हूँ । शोक, ताप आदि के प्रति उदासीन विधाता के सीने को चीर कर रख दूँगा ।

आग और अंगार भरे शब्द तथा विद्रोही विचार इन दोनों चीजों ने नजरूल को बंगाल में एक बड़े कवि के रूप में प्रतिष्ठित किया और नौजवान तो उन पर मुग्ध हो गए ।

राष्ट्रीय एवं प्रगतिशील तत्वों के साथ नजरूल के काव्य में प्रकृति को भी महत्व पूर्ण स्थान मिला । भौतिक अतिशयता के युग में भी नजरूल ने कृत्रिम यंत्रों की ओर आकर्षित न होकर विश्व में व्याप्त प्राकृतिक सौन्दर्य को आकर्षण का विषय बनाया । समानता, सौन्दर्य और स्वच्छन्दता से ओत-प्रोत प्रकृति की प्रत्येक गति में उन्हें अदृश्य एवं अलौकिक सत्ता की अनुभूति हुई । उनका जीवन प्रकृति के खुले प्रांगन में बीता । प्रकृति के हर रूप का नजरूल ने सूक्ष्म अध्ययन किया । यही कारण है कि उन्होंने प्रकृति के अभिधात्मक, भावविक्षिप्त एवं आलंकारिक चित्र प्रस्तुत करने के अतिरिक्त रहस्य दर्शन तथा चैतन्य की अनुभूति के कारण प्रकृति के अनन्य चितेरे बनने का गौरव भी प्राप्त किया है ।

विषय की दृष्टि से उनकी रचनाओं को चार मुख्य भागों में विभक्त किया जा सकता है । पहले वर्ग में उनकी विद्रोही प्रधान एवं राष्ट्रवादी रचनाएँ आती हैं - जैसे " अग्निवीणा ", " विषेर बांशी ", " परिणमनसा ", " प्रलयशिखा ", संध्या और शेष सभोगात । प्रेम सम्बन्धी दूसरे वर्ग की रचनाओं में 'दोलन चांपा', 'छायानट', 'पूबेरा हाओया', 'सिन्धु हिन्दोलन' और 'चक्रवाक' विशेषरूप से उल्लेखनीय है । तीसरे वर्ग में साम्यवादी रचनाएँ आती हैं

जैसे साम्यवादी, सर्वहारा, भंडार गान, झड़ और नूतन चांद । अन्तिम चौथा वर्ग धार्मिक एवं सांस्कृतिक रचनाओं का है, जैसे जिंजिर मरु-भास्कर ।

नजरूल का सबसे बड़ा गुण है - उनकी व्यापक सहानुभूति । उनके व्यक्तित्व का मानव पक्ष अत्यन्त विकसित था । उनका हृदय इतना विशाल था कि जीवन के सभी रूपों के प्रति उनमें लगाव था और युगधर्म के साथ तादात्म्य कर वे समय की पुकार को भाँप गए । उनके भीतर का कवि जैसे मर्माहत हो उठा । सामाजिक वैषम्य, धर्मान्धता और राजनीतिक परतन्त्रता के विरूद्ध उनका ओजपूर्ण स्वर इतना मुखर था कि जिससे जन जन के जीवन में नव स्फूर्ति और चेतना की लहर दौड़ गई ।

इस प्रकार की प्रभविष्णुता, अभिव्यक्ति कुशलता और उदात्त काव्य प्रक्रिया दिनकर में भी है जिनकी काव्य-नौका अपने समय के प्रत्येक आन्दोलन की लहरों की सतहों पर थिरक उठी और जिन्होंने अपने तईं परिवेश में ऐसे घुला मिला दिया कि समूचे वातावरण में बिखरे रहने पर भी वे वातावरण से कहीं न कहीं उभर दीख पड़े । चित्रशिल्पी की रंगमयी तूलिका से अंकित, बहुमुखी प्रतिभा से रंजित और संवेदना की जीवन्त चेतना से अनुप्राणित उनके काव्य शिल्प के कतिपय क्रान्तिकारी प्रयोग है जो नियत मार्ग या बनी बनाई लीक पर चलते हुए नहीं, वरन् हर अप्रत्याशित मोड़ एवं परिवर्त्तनों को अपने वृत्त में समेटते हुए आगे बढ़ते है ।

फलत: राष्ट्र चेतना की ओर उन्मुख दिनकर का कृतित्व प्रारम्भ से ही निरंकुश और गतिमान है । उन्होंने तात्कालिक छायावादी-रहस्यवादी कुहेलिका को चीरकर लोकाश्रय की नई सबल धारा प्रवाहमान की । ऐन्द्रिय संवेगों की ओर में छिपी आध्यात्मिक भावनाओं का सम्मोहन

इनकी भेदक दृष्टि के समक्ष देर तक न टिक सका, वरन् परिवर्तनशील समय के वैभिन्य में इन्होंने तारतम्य खोजने का प्रयास किया जिसके फलस्वरूप नये विचार एवं नई उत्क्रान्ति ने अभिव्यक्ति पाई, अभिव्यक्ति ऐसी-जिसका आविर्भाव आकाशचारी कल्पना से न होकर कवि की आत्मानुभूति के प्रशस्त धरातल पर हुआ। अपना मंतव्य प्रकट करते हुए दिनकर जी ने एक स्थल पर लिखा -- "जो अधिक से अधिक पाठकों के हृदय को छूना चाहता है, जो समय के अधिक से अधिक विस्तार में झंकार उत्पन्न करना चाहता है वह अपनी वैयक्तिक अनुभूति को समूह की अनुभूतियों के साथ अवश्य विजड़ित करेगा। शून्य में मँडरानेवाले सपने, हवा में गूँजने वाली अस्पष्ट ध्वनियाँ और रूमानी कल्पना की मधुरिमा क्रीडाएँ प्राणों से टकरा कर लौट जाती हैं, वे जन-मन में कल्लोल करती मूक आशाओं को मुखर नहीं करती। साहित्य की भूमि तभी तक उर्वर रह सकती है जब तक उसमें फिरनेवाली वायु स्वाधीन हो, उसमें पड़नेवाली किरणें मुक्त हों तथा उस पर बरसने वाले बादल पर किसी भी प्रकार की जंजीर न हो। एक अन्य स्थल पर दिनकर जी ने लिखा -- "आज की शंकाओं और हिलती हुई आस्थाओं को शमित एवं स्थिर बनाने का काम उस साहित्यकार के आगमन प्रतीक्षा कर रहा है जो भविष्य के उपवन में खिलनेवाले फूलों का संवाद आज के मनुष्य को सुना सके।"

नजरुल और दिनकर उद्दाम भावोच्छ्वास के ही कवि नहीं हैं, अपितु अंतर के अंतहीन ऊहापोहों, विचारों, मूल्य-मानदण्डों और युगान्तर-गामी साक्षात्कार की अनिवार पुकार के भीतर से उनका कवि उपजा है। उनके काव्य की वेगवतीधारा युगीन सम्भावनाओं एवं सक्षमताओं के अनुरूप बाह्य प्रभावों का आत्मसात् करती हुई व्यापक धरातल पर विकसित हुई। नित-नवीन चिन्तन, नित-नवीन ग्रहण की चेष्टा और अनुभूति में निर्भीकता व सचाई का दर्शन दोनों एक अंतर्लय से अनुस्यूत हैं। उनकी अपनी कविता का

एक अलग स्वर और रूप है जो अपने परिवेश के साथ असंख्य भावसूत्रों से जुड़कर जीवन्त काव्य-सृजन की कसौटी पर खरा उतरा है - प्रखर अनुभूति का वैविध्य और विस्तार लिये और यही उनकी कविता की विशेषता है । गीतमय काव्य परम्पराओं के साथ नई पीढ़ी के मानस की अनिवार्य समन्विति की अभिव्यक्ति है - उनका काव्य । वे स्वयं में परम्परा और आधुनिकता के सजीव संगम है । वे समस्त प्राचीन को व्यर्थ या प्रतिक्रियावादी नहीं मानते, न ही नये को विडम्बना को हावी होने देते हैं । देश तथा युग की भावदशाओं से प्रेरित समस्त कलागत और अभिव्यक्तिगत संघर्ष व अंतर्विरोधों से पुंजीभूत उनके उद्दाम भावोन्मेष ने काव्यधारा में एक नया मोड उपस्थित किया है ।

राष्ट्रीय भावना :

नजरुल और दिनकरने, जिस युग में आँख खोली, वह युग पराधीनता का था । उस निराशा पूर्ण अंधकार के युग में समाज, राजनीति, धर्म, साहित्य इत्यादि में सभी प्रकार के सुधार की आवश्यकता थी । राष्ट्रीय नवोत्थान के इस महत्वपूर्ण कार्य में तत्कालीन साहित्यकारों का बड़ा हाथ रहा है । उन्होंने साहित्य के माध्यम से समाज में राष्ट्र, प्रेम, स्वाधीनता की प्यास और सांस्कृतिक स्वाभिमान उत्पन्न करने का कार्यभार अपने ऊपर लिया । दोनों कवियों में भारतीय राष्ट्रीय भावना को शक्तिसंपन्न वाणी प्रदान करने की अपार क्षमता दिखाई देती है । भाषा भिन्न है पर स्वर एक है । दोनों की राष्ट्रीयता के मुख्य रूप निम्नलिखित हैं ।

१· वर्तमान के प्रति क्षोभ :-

राष्ट्रीयता का आरंभ होता राष्ट्र की वर्तमान दशा के गहरे पर्यवेक्षण से । यह कार्य दिनकर और नजरूल जी ने अद्भुत निष्ठा के साथ किया है । स्वतंत्रतापूर्व के शोषित भारत के जैसे मार्मिक चित्र दिनकर के काव्य में मिलते हैं वैसे अन्यत्र दुर्लभ हैं । " हाहाकार ", " चलो कवि वनफूलों की ओर " इत्यादि कविताएँ प्रमाण हैं । पर कवि ने केवल तत्कालीन भारत की निर्धनता ही नहीं देखी है, राष्ट्र की अन्य समस्याओं पर भी कवि का ध्यान गया है । सांप्रदायिक दंगे से जर्जर भारत को देखकर भी वह दु:खी हुआ है -

लड़ते हैं हिन्दू-मुसलमान,
भारत की आँखें जलती हैं।
आनेवाली आजादी को
लो, दोनों पाँखें जलती हैं।

नजरूल ने भी भारत की विभिन्न अवस्था को खुली आखों से देखा था । तत्कालीन व्यवस्था में कितनी निर्दयपूर्वक दलितवर्ग का शोषण हो रहा था, इसकी एक मार्मिक झलक नजरूल ने प्रस्तुत की है --

आज चार दिक हते धनिक वणिक शोषणकारीर जात
ओ आई , जोंकेर मतन शुषछे रक्त, काड़छे खालार भात ।[1]

१· सर्वहारा - कृषाणेर गान - नजरूल इस्लाम - पृ· 7 - 8·

अतीत का गौरव गान :-

नजरूल में अतीत का अनुराग इतना प्रबल है वह पग-पग पर पीछे मुड़कर राष्ट्र के अतीत को देखता है । जिस तरह भारतीय संस्कृति की आत्मा अपने अतीत से सशक्त व परिष्कृत है उसी प्रकार नजरूल की काव्यात्मा भारतीय इतिहास के निर्झर से ही परम सौन्दर्य को लेकर आगे बढ़ रही है । " सर्वहारा " "भांडार गान "रचनाओं में नजरूल ने अतीत का गौरव गान किया है । अतीत के गौरव की झलक प्रस्तुत करने में दिनकर को नजरूल का समानधर्मी कहा जा सकता है । इन्होंने भी अतीत का महती उपलब्धियों का स्मरण कराते हुए नव-जागरण का पथ प्रशस्त किया है ।

राष्ट्रीय जीवन में जागृति का मंत्र फूंकने के लिए वह अतीत के द्वार पर खड़ा हो उसके वैभव को टेर रहा है --

बहुत बार भग्नावशेष पर अक्षत फूल बिखेर-चुकी,
खण्डहार में आरती जलाकर रो रो तुम को टेर चुकी ।
वर्तमान का आज निमंत्रण देह धरो आगे आओ,
ग्रहण करो आकार देवता, यह पूजा प्रसाद पाओ ।[1]

विद्रोह की आकांक्षा :-

दिनकर और नजरूल ने विद्रोह का आह्वान किया है, उसके मूल में मुक्ति की कामना है । वे केवल विदेशी शासन से ही मुक्ति पाना नहीं चाहते, बल्कि भारतीय समाज विद्यमान वर्गगत विषमता, उच्चनीच का भेद भाव, सामन्ती व्यवस्था, निर्धनता इत्यादि को नष्ट करके एक शुद्ध मानवतावादी वातावरण का सृजन करना चाहते है ।

---

1. सामधेनी - दिनकर - पृ. 34.

दिनकर का विद्रोह जहाँ राजनीतिक स्वत्व प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रही है वहाँ सामाजिक नव निर्माण के लिए भी उसकी विद्रोह का स्वर पूर्णरूपेण प्रस्फुटित हुआ है। " रेणुका " में कवि का " विप्लव " समस्त धरा को प्रलय के कराल गाल में विनष्टकर नई सृष्टि के निर्माण की कल्पना कर रहा था। " हुँकार " में आते आते कवि की क्रान्ति भारतीय राजनीतिक सीमाओं से आबद्ध हो गयी है। हुंकार की प्रचण्डाग्नि में वह सामर्थ्य छिपा है जो पराधीनता को सदा के लिए विनष्ट कर सकता है। क्रान्ति का तीसरा स्वर " सामधेनी " में एक आशा, उत्साह, और साहस की भावोत्तेजना के साथ प्रकट हुआ है। दिनकर जिस विद्रोह का स्वप्न देखते हैं, उसकी परिणति वर्ग-उत्पीड़न को समाप्त करके समाजवादी रचना में है। संकीर्ण राष्ट्रवादी न होकर वे मनुष्य मात्र के बन्धुत्व की घोषणा करते हैं।

नजरुल की विद्रोह मूलक भावधारा में राजनैतिक पक्ष प्रधान है। अन्याय, कुसंस्कार और जड़ता के विरुद्ध उनकी रौद्रवाणी क्षोभ से वज्रहुंकार उत्सारित करती है। जिस युग में नजरुल ने साहित्य में प्रवेश किया वह विद्रोह का युग था। वंगभंग के कारण बंगाल की जनता जाग चुकी थी और भारतीय जनता भी अपने राजनीतिक लक्ष्य, स्वतंत्रता प्राप्ति के प्रति जागरूक हो चली थी। ऐसी परिस्थिति में काजी नजरुल इस्लाम ने अपने आग भरे शब्दों में ललकार कर कहा --

आमि दुर्वार
आमि भेंगे कोरि सब चुरमार
आमि अनियम उच्छृंखल
आमि दले जाई जतो बन्धीन
जतो नियम-कानून शृंखल ।

कवि विद्रोही है चूँकि जनता की विपत्तियाँ उसके प्राणों को हिल्लोलित करती है । वह उसी दिन शांत होगा जिस दिन अत्याचारी की खंग कृपाण की कौंध रणभूमि से गायब हो जाएगी ।

नजरूल की ललकार ने नौजवानों के खून खौला दिये । उनकी ही बोली में उन्हीं के मन की बात से जैसे उनके प्राण झूम उठे । उनके रक्त में सिहरन की एक लहर सी दौड़ गई और नजरूल एक अर्से तक नई पीढ़ी का नेतृत्व करते रहे । बाजारों, गलीकूचों और कारागार की लौह श्रृंखलाओं की झंकार में उनके " विद्रोही " स्वर बज उठे । अग्निवीणा जब प्रकाशित हुई तो उन पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया । उसी दौरान उन्होंने " धूमकेतु " नामक एक पत्रिका निकाली जो बहुप्रशंसित हुई और जिसने उनके विचारों को चतुर्दिक् फैलाया ।

शौर्य से दीप्त ज्वलंत विद्रोह का आह्वान दिनकर जी की स्वातंत्र्य पूर्व राष्ट्रीय भावना और राजनीतिक दृष्टिकोण का प्रमुख पक्ष है । दिनकर जी ने क्रांति की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की, उसकी उपासना के गीत गाये । क्रान्ति के विस्फोट को अपने जीवन का एकमात्र आकांक्षा तक घोषित किया ।

> स्वातंत्र्य, पूजता मैं न तुझे इसलिए किन्तु सुख शान्ति रूप
> हाँ, उसे पूजता, जो चलता तेरे आगे नित क्रान्ति-रूप
> मुझमें उसका बल, तेज, शेष, तेरे दिले में जिसका निनाद
> विप्लव का जो है तूर्य-नाद, मेरे दिल की वह आह एक,
> बल उठे किसी दिशि वधि-राशि, ले-देकर मेरी चाह एक ।[1]

---

1. हुंकार - दिनकर - पृ. 18.

कवि को क्रान्ति की अजेय शक्ति पर अटूट विश्वास है । क्रान्ति की पदचाप सुनकर अनीतिपूर्ण कानूनों की विधायक सरकारें उसके भय से आतंकित हो उठती हैं । कवि की दृष्टि में क्रान्ति मानवता की संहारक न होकर उद्धारक है । वह निस्तेज म्रियमाण जाति में ओज का संचार करती है । क्रान्ति विप्लव की वह प्रखर ज्वाला है, जो अनेक शताब्दियों तक अन्याय सहन करते रहने के उपरान्त पददलित जातियों में सहसा भयंकर रूप से प्रज्वलित हो उठती है --

> मैं निस्तेजों का तेज, युगों के मूक मौन की वाणी हूँ
> दिल जले शासितों के दिलकी मैं जलती हुई कहानी हूँ
> सदियों की जब्ती तोड़ जगी मैं उसज्वाला की रानी हूँ ।[1]

नजरुल का विचार है कि अमानुषिक शासन और शोषण का उपयुक्त उत्तर क्रान्ति ही है । स्वाधीनता के लिए निष्क्रिय आन्दोलन करनेवालों को उन्होंने धिक्कारा है । अहिंसा और प्रेम को उन्होंने आदर्श के रूप में माना है, पर यथार्थ जीवन में दुष्टों से संघर्ष हेतु इन आदर्शों का मूल्य नहीं के बराबर है । बाघ के जब तक नख और दन्त हैं, तब तक वह प्रेम के सबक को नहीं सीखता, उसे वेदान्त पढ़ाना बेकार है ।

अपने प्रारंभिक जीवन में नजरुल गाँधी जी से प्रभावित हुए थे, परन्तु धीरे-धीरे अहिंसा से उनका विश्वास उठता गया और वे क्रान्ति के पुजारी बन गए । " बिद्रोहीर वाणी " में उन्होंने सविनय आन्दोलन को व्यर्थ बताया है । वीरतापूर्वक समर में जूझकर स्वाधीनता प्राप्त करने में जो शान है, वह घुटने टिकाकर, याचना प्राप्त करके प्राप्त स्वाधीनता में

---

1. हुंकार - दिनकर - पृ. 74.

कहा है ? अत: नजरुल ने क्रान्ति पथ को स्वीकारा है । नजरुल की तरह दिनकर ने भी पहले गाँधीवाद का समर्थन किया परन्तु बाद में उसका विरोध कर क्रान्ति का समर्थन किया है ।

दोनों कवियों के विद्रोह परक काव्य के अनुशीलन से स्पष्ट होता है दोनों राष्ट्रीय आदर्शों और मानवता के तत्व से ओत-प्रोत हैं । अपरिमित मानवप्रेम के कारण ही दोनों क्रांति के गायक बने । मानव की कुंठित-लुंठित दशा देखकर ही इन्होंने क्रांति का व्रत लिया । शोषकों और साम्राज्यवादियों को दोनों फटकारा है । पराधीनता, सामाजिक पतन तथा पूंजीवादी शोषण से खिन्न होकर दोनों क्रांति के अग्रदूत बने ।

निष्कर्ष :

दिनकर और नजरुल की राष्ट्रीय भावना का तुलनात्मक अनुशीलन करने के उपरान्त कहा जा सकता है कि दोनों कवि सच्चे राष्ट्र भक्त और मानवता के पुजारी हैं । दोनों ने भारतमाता की भव्यमूर्ति के मनोरम चित्रों की झलक प्रस्तुत की है । भारत के प्राचीन एवं अर्वाचीन वैभव के चित्र भी अंकित किए हैं । देश की प्राकृतिक सुषमा को निहार कर दोनों कवि अपने को धन्य समझते हैं । दोनों ने ओजस्वी स्वर में भारत की सांस्कृतिक उपलब्धियों का गुण गान किया है, साथ ही अपने युग के जीर्ण-शीर्ण एवं पराधीन भारत की व्यथा की अभिव्यंजना भी की है । गर्हित अवस्था से ऊपर उठने के लिए क्रान्ति का आह्वान तथा उद्बोधन में भी दोनों के स्वर समान पाए जाते हैं ।

4·3· मुहम्मद इक्बाल और दिनकर :

4·3·1· नवोत्थान के कवि :-

भारत में संपूर्ण राष्ट्रीयता का विकास आधुनिक काल की देन है क्योंकि अंग्रेजों ने पूरे भारत वर्ष पर शासन स्थापित कर लिया था और पूरी भारत की प्रजा चाहे वह किसी वर्ग या जाति की हो समान यातना का अनुभव कर रही थी और अंग्रेजो को अपने आप का गुलाम महसूस करने लगी थी, और इनसे मुक्ति प्राप्त करने की बेचैनी किसी एक धर्म या प्रदेश तक सीमित न रहकर पूरे देश में व्याप्त हो गयी थी ।

डॉ·मुहम्मद इक्बाल और दिनकर जी ने जब लिखना शुरू किया जब राष्ट्रीयता का विकास हो चुका था । इक्बाल ने दिनकर जी से काफी पहले लिखना शुरू किया था । इसलिए दिनकर ने स्वयं इक्बाल की राष्ट्रीय भावना से प्रभावित हुए थे और " तसवीरे दर्द " का दर्द उन्होंने महसूस किया था । इक्बाल ने जब लिखना शुरू किया तब उर्दू साहित्य में राष्ट्रीय भावना का विकास हो चुका था । हाली, आजाद और शिबली की नज़्में भारतीयों के दिलों में नयी उमंगे, नया जोश भर रही थी । और समस्त भारतवासियों के हृदय में आजादी के लिए संघर्ष की भावना पैदा कर चुकी थी, दिनकर जी जब लिखना शुरू किया तब तो स्वतंत्रता संग्राम अपनी चरम सीमा तक पहुँच चुका था । माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण नवीन और मैथिलीशरण गुप्त की कविताएँ भारतीयों के दिलों में उमंगे पैदा कर चुकी थी, और स्वयं दिनकर जी को भी इन काव्यों की कविताओं ने प्रभावित किया है । इस प्रकार यह तो कहा जा सकता है कि जब दिनकर जी ने लिखना शुरू किया तब राष्ट्रीयता के अनुकूल वातावरण था ।

राष्ट्रीयता की जड़ें समाज में गड़ी है और प्रत्येक व्यक्ति की तरह कवि भी सामाजिक प्राणी है। वह न चाहते हुए भी अपने वातावरण से प्रभावित होता है। वास्तव में देखा जाये तो उसी कवि की लेखनी सफल कही जाएगी जो समाज से साक्षात्कार कर उसकी आवश्यकता को समझ, उसके दर्द को अपने अंदर समा कर फिर कला के साँचे में ढाल कर इस दर्द की अभिव्यक्ति करें। इसलिए चारों तरफ दर्द से पीड़ित लोगों को देखकर कवि की लेखनी कैसे चुप रह सकती यूँ तो दिनकर जी ने स्वयं " रश्मि लोक " की भूमिका में लिखा है।

" संस्कारों से मैं कला के सामाजिक पक्ष का प्रेमी अवश्य बन गया किन्तु मन मेरा भी चाहता था कि गर्जन तर्जन से दूर रहूँ, और केवल ऐसा ही कविताएँ लिखूँ जिसमें कोमलता और कल्पना का उभार हो .... सुयश मुझे हुंकार से ही मिला किन्तु आत्मा मेरी अब भी " रसवन्ती " में ही बसती है। राष्ट्रीयता मेरे व्यक्तित्व के भीतर से नहीं जनमी। उसने बाहर से आकर मुझे आक्रान्त किया है।

दिनकर ने देशवासियों के दर्द को जितना महसूस किया, अंग्रेज के प्रति जो क्षोभ व्यक्त किया, देशवासियों में जिस प्रकार क्रान्ति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। वह एक सच्चा राष्ट्र कवि ही कर सकता है और ऐसा राष्ट्रकवि जिसके मन में भीतर से ही राष्ट्रीयता रूपी स्रोत प्रवाहित हुआ हो। यही नहीं कुरुक्षेत्र दिनकर का महान काव्य है, इसमें जिन दर्शन का प्रतिपादन है वह है संघर्षशील जीवन व्यतीत करना अत्याचार के आगे न झुकना कुरुक्षेत्र के माध्यम से दिनकर ने अपने देशवासियों के दिल में जिस प्रकार संघर्षशील भावना का संचार किया है जिस प्रकार उन्हें कर्म की तरफ अग्रसर होने की शिक्षा दी है और जिस प्रकार उन्हें यह बताया है कि जीवन अपने लिए नहीं दूसरे के लिये जीने का नाम है, इनसे स्पष्ट होता है निस्सन्देह दिनकर जी सच्चे राष्ट्र कवि थे। भारत माता की पुकार पर वह उनकी तरफ दौड़ पड़े। लेकिन साथ ही

साथ यह भी कहना ही पड़ेगा दिनकर जी प्रेम के भी कवि थे। फारसी और उर्दू के जिन साहित्य कारों से दिनकर विशेष प्रभावित रहे है, उनमें सर इकबाल का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है।

डॉ॰इकबाल की राष्ट्रीय भावना का जहां तक प्रश्न उठता है वह कई कारणों से उपेक्षित रही है। उनकी शुरू की शायरी में सिर्फ राष्ट्रीय भावना का ही प्रभाव है और 1905 तक शायरी में देश से अथाह प्रेम की झलक पायी जाती है। परन्तु 1905 में वह योरोप गये वहां से वापस होने के बाद की शायरी में राष्ट्रीयता का वह रंग नहीं दिखायी देता जैसा पहले था। लेकिन अपनी मातृभूमि से प्रेम इकबाल का अन्त तक रहा। इंगलैंड में रहकर इकबाल ने पाश्चात्य जीवन दर्शन और उसकी कमजोरियों को गहराई से देखा था और जब वे भारत लौटे, तो उन्होंने भारतीयों को तीन संदेश दिये – 1॰ कर्मण्यता 2॰ संघर्षशीलता 3॰ हृदय पक्ष की महत्ता। कर्मण्यता और संघर्षशीलता के कारण ही पाश्चात्य देशों की इतनी प्रगती हुई है किन्तु इतनी प्रगति के बाद भी उनमें छीना-झपटी और स्वार्थपरता का भाव है जिससे वे अशांत है। इकबाल सोचते थे कि यही भाव उन्हें पतन की ओर ले जायगा। इसलिये उन्होंने भारतीयों को पाश्चात्य जाति की दार्शनिकता, कर्मठता और संघर्षशीलता को अपनाने का सन्देश दिया, पर यह भी कहा है कि उनकी कमजोरियों को अपनाने से एशिया का विनाश होगा। वे दर्शन के विद्वान और दार्शनिक थे।

दिनकर ने इकबाल को भारतीय राष्ट्रीयता का बड़ा समर्थक माना है। उनकी प्रारंभिक रचनाओं से यह सिद्ध हो जाता है। उनकी " नया शिवालय ", " तरानए हिन्द " और " तस्वीरे-दर्द " में भारत की सामासिक संस्कृति का समर्थन करनेवाले विचार मिलते है। वे हिन्दु-मुस्लिम एकता के बड़े हामी और भारतीय स्वतंत्रता के समर्थक थे। " बांगेदरा " में संग्रहीत " नानक "

और " राम " शीर्षक कविताएँ कवि को राष्ट्रीयता के प्रमाण है। हिन्दु-मुस्लिम एकता की दृष्टि से विचार करें तो " बाँगेदरा " राष्ट्रीय काव्य है।[1]

दिनकर के अनुसार इक्बाल की राष्ट्रीयता उनके भीतर की उपज थी न कि नकली अथवा कृत्रिम थी। दिनकर लिखते हैं - " उसके (बाँगेदरा) भीतर ऐसी ऐसी पंक्तियाँ भरी पड़ी हैं जो किसी ऐसे हृदय से निकल ही नहीं सकती थीं, जिसमें राष्ट्रीय एकता के लिए बेचैनी न रही हो। " तरानए-हिन्द " को बाद देकर भी देखें तब भी " नया शिवाला " के भाव बड़े ही तेजस्वी और पवित्र दीखते हैं। ये भाव उस बेचैन कवि के हैं, जो हिन्दुओं और मुसलमानों से यह कहना चाहता है कि मन्दिर और मस्जिद को लेकर तुम क्यों अलग होते हो ? तुम्हारा आधार तो वह मिट्टी है, जिस पर ये दोनों इमारतें खड़ी हैं। यह मिट्टी मन्दिर और मस्जिद दोनों से बढ़कर पाक और पवित्र है।[2]

4·3·2· प्रवृत्ति का समर्थक :-

इक्बाल ने पारलौकिकता का विरोध और इहलौकिकता का समर्थन किया। वे कर्मठता को सबसे बड़ा दर्शन मानते थे और यह विश्वास करते थे कि सृष्टि के मूल में कर्म और संघर्ष है। जीवन को वे सतत क्रियाशीलता का ही दूसरा नाम मानते थे। उन्होंने प्रवृत्तिमार्ग का समर्थन किया जो इस्लाम का पुराना मार्ग था। इक्बाल के इस पक्ष पर विचार करते हुए दिनकर लिखते हैं -- " इक्बाल की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने ऊँघते हुए भारतीयों को

1· संस्कृति के चार अध्याय - पृ· 702·
2· - वही - पृ· 698·

कर्मठता को ओर प्रेरित किया और वोरता पूर्वक यह उद्घोष किया कि कर्मठता से पुण्य नहों बढ़ता है, वह स्वयं भारो पुण्य है यहाँ तक कि अकर्मण्य मुसलमान से कर्मण्य काफिर भी श्रेष्ठ है ।[1]

अपने काव्य के माध्यम से इक्बाल ने मुसलमानों में प्रवृत्तिवादो भावना भरो, उन्हें झकझोर कर कर्मण्यता और मर्दानगो का तेज भरा । भारतोय इस्लाम के जागरण में उनका योगदान अतुलनोय और अपरिमेय हैं। इक्बाल यूरोपोय प्रजातन्त्र में विश्वास नहों करते थे। यहाँ वे नोत्से से प्रभावित थे। मनुष्य को वैयक्तिकता में इक्बाल नोत्से को भाँति हो विश्वास करते थे और उन्हें गरुड़ और बाज बनकर जोने का आदर्श सिखाते थे। दिनकर यह मानते हैं कि इक्बाल के दर्शन का केवल साम्प्रदायिक अभिप्राय नहों है । इक्बाल का दर्शन सिर्फ मुसलमानों के लिए नहों, वरन् उन लोगों के लिए है जिन्हें उत्थान को अपेक्षा है । इक्बाल ने संघर्ष को जोवन के लिए आवश्यक माना है क्योंकि यहो मनुष्य को व्यक्तित्व भी देता है । वे दया, सहिष्णुता और अहिंसा को व्याप्त मानते थे, पर उन्होंने प्रेम को महिमा को स्वोकार किया है। उन्होंने तर्क और बुद्धि को अपेक्षा अनुभूति और हृदय को महत्त्व दिया है । इस अर्थ में दिनकर ने उन्हें गाँधी, रवोन्द्र और रामकृष्ण के निकट माना है। दिमाग को अपेक्षा उन्होंने हमेशा विशिष्टता प्रदान को है ।

इक्बाल जोवन को प्रभावित करने वाले कवि हैं। एक कवि के रूप में उन्होंने कविता के सौन्दर्य और कला पक्ष को उपेक्षा हो को है, क्योंकि वे शुद्धतावादो कवि के बिल्कुल विपरोत पड़ते है। वे कला को जोवन के लिए मानते हैं। जोवन से भिन्न वे कला को सत्ता नहों स्वोकारते और कविता को कर्म को प्रेरणा देनेवालो शक्ति मानतो हैं। उन्होंने कहते है कि " कला में अफोम-सेवन के लिये गुंजाइश नहों होनो चाहिये । इक्बाल के कला-विषयक सिद्धान्त को एक आलोचक नें टॉलस्टॉय का सिद्धान्त मानते हैं।

1· संस्कृति के चार अध्याय - पृ· 707·

4.3.3. दिनकर और इकबाल के काव्य में राष्ट्रीयता के भाव :-

इकबाल राष्ट्रीय भावना के उत्कृष्टतम गायक हैं । उनके अन्दर राष्ट्रप्रेम का उच्छल स्रोत सतत प्रवाहमान मिलेगा । उनकी प्रारम्भिक कृतियों से अधावधिक रचनाओं तक में प्राप्य जो मूलवर्ती भावधारा प्रवाहित हुई है वह राष्ट्रीयता की है । यह राष्ट्रीयता मूलत: जन्मती इस चेतना से कि यह राष्ट्र हमारा है और हम इसका सन्तति हैं, भारत हमारा है और हम भारत के हैं । समग्र भारत ही हमारी लीला भूमि है और हम सब इसी भारत के निवासी हैं । इसकी मिट्टी का एक-एक कण और इस धरती का एक-एक तृण हमसे अविच्छेद्य रूप से सम्बद्ध है । हम सब इसके संरक्षण के लिए कृत संकल्प हैं इस प्रकार देश को अविभाज्य रूप से अपना समझने की चेतना ही राष्ट्रीयता कहलाती है । अखण्ड स्वदेश-प्रेम, जिसमें जाति, धर्म, भाषा, प्रान्त आदि की विभेदक चेतनायें तिरोहित हो गई हों । राष्ट्रीयता या राष्ट्रप्रेम कहा जायगा । यह चेतना जब किसी कवि में प्रधान होती है तब वह कभी अपने देश के अतीत पर दृष्टि डालता है । कभी उसके वर्तमान पद और कभी उसके भविष्य पर । राष्ट्रीय भावना का रूप कवि के यहाँ भिन्न-भिन्न रूपों में पायी जाती है ।

4.3.3.1. मातृभूमि से प्रेम :-

मातृभूमि से प्रेम राष्ट्रीय प्रेम की पहली सीढ़ी है । यही वह नींव है जिस पर आगे सदृढ़ इमारत खड़ी होती है । मातृभूमि से प्रेम का तात्पर्य है, उसे देश की प्रकृति से प्रेम, वहाँ की नदियों, पर्वतों से प्रेम वहाँ के ऐतिहासिक इमारतों और खंडहारों से प्रेम और यह स्वाभाविक भी है कि जिस देश की मिट्टी में हम खेल-कूद कर बड़े हुये हैं उस देश की हर वस्तु से हमें लगाव होता है । एक तरफ उस देश के ऊँचे-ऊँचे पर्वत कवि को अपनी तरफ आकर्षि

करेंगे तो दूसरी तरफ कल कल बहती नदियाँ हरें-भरे खेत कवि को अपने तरफ पुकारेंगे हँसती-खेलती प्रकृति का चित्रण राष्ट्रीय कविता की आत्मा है। इस सन्दर्भ में शिवबालकराय का कथन है कि --

" एक सामान्य सांस्कृति परम्परा और ऐतिहासिक धारा से परिचालित होनेवाले भू भाग राष्ट्र कहलाता है और राष्ट्रीय कविता अपने राष्ट्र को सांस्कृतिक परम्परा और अतीत गौरव का संरक्षण करती है। वर्तमान दशा का यथार्थ वर्णन कर भविष्य की रूपरेखा का स्पष्ट अंकन करती है। राष्ट्र कल्याण की कामना से वह क्रान्ति या सुधार का जयगान करती है। राष्ट्रीय कविता में देश की हँसती-खेलती प्रकृति का चित्र अपेक्षित है।[1]

हिमालय के प्रति इकबाल और दिनकर की भावना :-

हिमालय कुलयाते इक़बाल की पहली नज़म जिसमें इकबाल ने हिमालय के प्रति बड़ी श्रद्धा व्यक्त की है और इसके प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन बहुत सुन्दर ढंग से किया है। इकबाल हिमालय को हिन्दुस्तान के सिर का ताज और हिन्दुस्तान का रखवाला बतलाते हैं।

ए हिमालय ए फसीले किश्वरे हिन्दुस्ताँ
    चूमता है तेरी पेशानी को झुक कर आसमाँ
तुझ में कुछ पैदा नहीं देरीना रोज़ी के निशाँ
    तू जवा है गरदिशे शामों सहर के दरमियाँ
एक जलवा था कलीमें तूरे सीना के लिए
    तू तजल्ली है सरापा चश्में बीना के लिए

---

1. शिवबालक राय - दिनकर - पृ. 4.

आगे उन्होंने हिमालय पर बहने वाली नदियों का गान किया है ।

§ सुख सिन्धु ...... उदार " पृ० 6 §

इकबाल कहते हैं कि तेरे गोद में जो नदियाँ गाती हुयी बहती है, उनके सामने नदी कौसर जो जन्म में हैं वह भी शरमा जाय । यह नदियाँ प्रकृति को आइना दिखाती है ।

आती है नद्दी फराज़े कोह से गाती हुयी
कौस री तसनीम की मौजों को शरमाती हुयी
आईना सा शाहिदे कुदरत को दिखलाती हुयी
संग रहे से गाह बचती गाहट कराती हुयी ।[1]

इकबाल अपनी " हिमालय " कविता में अपने उज्जवल अतीत को आवाज देते हुए प्रतीत होते हैं ।

ऐ हिमालय दास्ताँ उस वक्त की कोई सुना
मसकने आबाये इन्सां जब-बना दामना तेरा
कुछ बता उस सीधी सादी जिन्दगी का माजरा
दाग जिस पर गाजये रंगे तकल्लुफ का न था
हाँ दिखा दे ऐ तस्वीर फिर वह सुब्होशाम तू
लौट पीछे की तरफ ऐ गर्दिशे अय्याम तू ।[2]

आगे उन्होंने अपनी नज़म " तराने हिन्दी " में हिन्दुस्तान को सारे संसार में सब से अच्छा देश कहा है और यहाँ की एकता, संस्कृति और प्राकृतिक दृश्यों का गुणगान इस कविता में करते हैं --

---

1· कुलायते - इकबाल - पृ· 23·

2· - वही -

सारे जहाँ से अच्छा हिन्दुस्ताँ हमारा
हम बुल बुले है इसको गुलसिता हमारा
पर्वत वह सब से ऊँचे हमसाया आसमाँ का
वह सन्तरी हमारा वह पास बाँ हमारा ...

....

गोदो में खेलती है इसको हजारों नदियाँ
गुलशन है जिसके दम से रश्के जिनाँ हमारा
मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना
हिन्दी है हम वतन है हिन्दोस्ता हमारा
युनानो मिस्री रोमा सब मिट गये जहाँ से
अब तक मगर है बाकी नामों निशाँ हमारा ।

इकबाल की नजमों का संग्रह " बाले जिबरील " में भी अपने देश के लिए अत्यधिक प्रेम झलकता दिखायी देता है । एक ऐसी ही नजम जरबे कलीम में " शीआम उम्मीद है " इस नजम में इकबाल ने उस समय की परिस्थितियाँ बताते हुये अपने देश वासियों को जगाने का प्रयत्न किया । इसमें सूरज की एक किरण के माध्यम से शायर अपने भाव व्यक्त करते हैं । सूरज की एक किरन जो सूरज से रुखसत माँगती है क्योंकि वह भारत के एक-एक भाग में रोशनी फैला सके । यह किरन उस समय तक भारत में रहना चाहती है । जब तक कि यहाँ के एक भारतीय दिल के दिल वतन के लिये प्रेम की शमा न जला दे उन्हें जागृत न कर दे ।

इकबाल की तरह दिनकर ने भी अपनी " हिमालय " कविता में भारत की ऐतिहासिक गरिमा, प्राकृतिक सौन्दर्य, भौगोलिक महत्व और सांस्कृतिक वैभव को अभिव्यक्त किया है । कवि ने इसमें देश को वास्तविक

---

1. कुलयात - इकबाल - पृ. 33.

स्थिति का सविस्तार वर्णन किया है । उन्होंने हिमालय के माध्यम से यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि भारत हमेशा अजेय, निर्बन्ध, मुक्त, युग-युग से गर्वोन्नत रहा है । यहाँ दिनकर जो देश की संस्कृति, देश का भूगोल, देश की समृध्दि का समग्र चित्र प्रस्तुत करते हुए कहता है --

सुख सिन्धु, पंचनद, ब्रह्म पुत्र
गंगा, यमुना की अमिय-धार
जिस पुण्य भूमि की ओर बही
तेरी विगलित करुणा उदार,
जिसके द्वारों पर खड़ा क्रान्त
सोमापति ! तू ने की पुकार,
पद-दलित इसे करना पीछे
पहले ले मेरा सिर उतार ।[1]

अपने देश की वास्तविक स्थिति को और अधिक से देखने के उद्देश्य से कवि सीधा नगपति के शिखर पर जा खडा हुआ है । उस ध्यानमग्न चिर समाधि लीन हिमाचल के उत्तुंग शिखर से उसने भारत के आहत गौरव को विस्फारित नयनों से देखा । देश के कोने-कोने में जलनेवाली जागृति की ज्वालाएँ आज उसे शान्त और वीरान दिखाई दे रही थी । उसने भारत के कण-कण को प्रेरणा देने का प्रयत्न " हिमालय " कविता में किया है ।

4·3·2· अतीत का स्वर :-

अतीत ऐसी शक्ति है जिनके सहारा लेकर आनेवाले कल को सँवारा जा सकता है । यह तो निश्चित है कि मानव जाति में जन्म सी सीखने की प्रवृत्ति पायी जाती है और सीखने और प्रेरणा ग्रहण करने के लिये मन

1· रेणुका - दिनकर - पृ· 5·

अतीत का सहारा लेते हैं। अपने सुन्दर अतीत के गान सम्बन्धी कविताएँ डॉ॰इक्बाल के काव्य में मिल जाता है। उन्होंने अतीत के रूप को उजागर करते हुए सुन्दर भविष्य की कल्पना की है।

चिश्ती ने जिस ज़मी में पैगामे हक़ सुनाया
नानक ने जिस चमन में वहदत का गीत गाया
तातारियों ने जिस को अपना वतन बताया
जिसने हजारियों से दश्ते अरब छुड़ाया
मेरा वतन वही है मेरा वतन वही है
यूनानियों को जिसने हैरान कर दिया था
मिट्टी को जिस को हक़ ने जर का असर दिया था
तुर्कों का जिसने दामन हीरों से भर दिया था
मेरा वतन वही है ....[1]

इक्बाल का कहना है हमारे देश में नानक और चिश्ती जैसे लोगों ने जन्म लिया, सारी दुनिया को ज्ञान हमारे देश से मिला। इस प्रकार कभी-कभी इक्बाल अपनी पुरानी सभ्यता के बारे में सोचते हैं। जब भारतवासी सीधे-सादे और ऊँचे विचारवाले थे।

ऐ हिमालय दास्ताँ उस वक्त की कोई सुना
मस्कने आबाये इन्सान जब बना दामन तेरा
कुछ बता उस सीधी सादी जिन्दगी का माजरा
दाग जिस पर गाज़ये रंगे तकल्लुफ का न था।[2]

1· कुलयाते - इक्बाल - पृ· 87·
2· - वही - पृ· 23·

दिनकर ने भी अपने काव्य में अतीत के लोगों की त्याग भावना के वर्णन-द्वारा नवयुवकों को प्रेरणा देने का प्रयत्न किया है । दिनकर में अतीत का अनुराग इतना प्रबल है कि वह पग-पग पर पीछे मुड़कर देश के अतीत को देखता है । जिस तरह भारतीय संस्कृति की आत्मा अपने अतीत में सशक्त व परिष्कृत है उसी प्रकार कवि दिनकर की काव्यात्मा भारतीय इतिहास के निर्झर से ही परम सौन्दर्य को लेकर आगे बढ़ रही है । रेणुका" के मंगल आह्वान में कवि निम्न शब्द अपने उद्देश्य को स्पष्ट करते हैं --

प्रिय दर्शन इतिहास कण्ठ में,
आज ध्वनित हो काव्य बने
वर्तमान की चित्र पटी पर,
भूत काल सम्भाव्य बने ।।[1]

दिनकर ने देश के अनेक महापुरुषों के चरित्रों के द्वारा भारतीय जनता को संघर्ष हेतु सन्नद्ध होने की प्रेरणा दी है । पराधीनता पर प्रथम प्रहार करनेवाले चित्तौड़ के महा प्रतापी प्रहरी पर उसका ध्यान सहसा आकृष्ट हुआ । स्वतन्त्रता की चिर ज्योति को प्रज्ज्वलित रखने के लिए वह वन-वन की खाक छानता रहा परन्तु अपने गर्वोन्नित मस्तक को हिमगिरि के समान ऊँचा उठाये रखा । कवि को सहसा उसका स्मरण हो आया और वह पूछने लगा --

पूछे सिकता कण से हिम पति तेरा वह राजस्थान कहाँ ?
वन-वन स्वतंत्रता दीप लिये फिरने वाला बलवान कहाँ ।[2]

---

1. रेणुका - मंगल आह्वान - दिनकर
2. रेणुका - दिनकर - पृ. ६.

चित्तौड़ की धधकती ज्वालाओं के प्रकाश में और आगे बढ़कर दिनकर ने देखा, उसके राष्ट्र का सारा अतीत चल चित्र के समान उसके सजग नेत्रों में सहसा उमड़ पड़ा । एक साथ कई युगों के दर्शन उसने क्षण भर में कर डाले और उसकी वाणी से बरबस ये शब्द निकले --

> तू पूछ अवध से राम कहाँ ? वृन्दा बोलो घनश्याम कहाँ ?
> ओ मगध ! कहाँ मेरे अशोक ? वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ ?[1]

इस प्रकार अतीत के गौरव को इसके प्रस्तुत करने में दिनकर को इकबाल का समानधर्मी कहा जा सकता है ।

4.3.3. वर्तमान दुर्दशा का चित्रण :-

हर मनुष्य समाज से प्रभावित होता है, इस तरह कवि भी एक सामाजिक प्राणी है अन्य मनुष्यों की अपेक्षा कवि कुछ भावुक होता है, समाज में होने-वाली प्रत्येक प्रक्रिया का उस पर प्रभाव पड़ता है, दोनों ही कवियों ने जब लिखना शुरू किया, बल्कि इकबाल के समय तो कुछ आशा लोगों का भी एक अच्छे जीवन की व्यथा व्यतीत करने की लेकिन दिनकर जी तक आते-आते यह आशा पूर्णतः निराशा में बदल चुकी थी । उस समय अंग्रेजों के अत्याचार से जनता त्राहि-त्राहि पुकार उठी थी, अंग्रेजों के अत्याचार का शिकार किसान, मजदूर सभी बने हुये थे, दिनकर और इकबाल दोनों ने युग एवं परिवेश की आवश्यकता को समझा और उस समय किसानों और मजदूरों की दुर्दशा का चित्रण करते हुये उन्हें विद्रोह के लिये उकसाया है ।

---

1. रेणुका - दिनकर - पृ. 6.

मजदूरों और किसानों की दयनीय दशा को देखकर इकबाल परेशान हो जाते हैं। कवि कहते है मजदूर किसान सीधे-सादे हैं और अंग्रेज और पूंजीपति उनकी सादगी का फायदा उठाते हैं। उनसे मेहनत लेते और मजदूरी भी कम देते है और जो कुछ मजदूरी देते है वह एहसान जताते हैं।

दस्ते दौलत आफरी को मुज़्द यूं मिलती रही
एहले सरवत जैसे देते हैं गरीबों को ज़कात
मक्र की चालों से बाजी ले गया सरमायादार
इन्तेहाये सादगी से खा गया मजदूर मात
उठ कि अब बज्में जहाँ का और ही अंदाज है
मशरिकों मगरिब में तेरे दौर का आगाज़ है।[1]

इकबाल ने अमीर गरीबी के लोगो को सच्चे दिल से महसूस किया था और इनका विचार था अमीरों द्वारा जनता हर तरह सतायी जाती है। यह कही लोकतंत्र, कही समाजवाद, कही राजवाद का लिबास पहन लेते है और गरीबो का खून चूसते है। इकबाल का कहना है कि यह अमीर लोग गरीब जनता से रोने, सिसकने की तक भी छीन लेते है। इकबाल इन हैवानो के हाथो को समाप्त कर एक ऐसा राज्य की स्थापना चाहते है जिसमें सबको जीने का समान अधिकार देता हो।

दिनकर का उदय ऐसे संक्रमण काल में हुआ था जिस समय देश दोहरी मार से प्रताड़ित था। एक ओर कृषक वर्ग शोषित था, श्रमिक उत्पीड़न से झुलस रहा था। सामाजिक विषमता पूर्ण नग्न हो चुकी थी, जातीयता की विषबेल तथा छुआछूत की भावना पल्लवित होकर समाज को अपने अभिशाप से विनाश के कराल गाल में धकेल रहा था। दूसरी ओर विदेशी शासन समस्त भारत राष्ट्र को निस्तेज, अशक्त तथा गौरवहीन बनाने के लिए कृत-संकल्प था।

---

1. कुलयाते - इकबाल - पृ. 262.

दिनकर के काव्य में यही स्वर गूँजते हैं। उन्होंने अपनी आँखों से पराधीन भारत की दुर्दशा को देखा था और इसी से उन्होंने अपनी कविताओं में अपनी भावना को अतीत के शैल श्रृंगों से उतार कर यथार्थ के धरातल पर खींच लाने का प्रयास किया है --

शैल श्रृंग चढ़ समय-सिन्धु के आर पार तुम हेर रहे
किन्तु ज्ञात क्या तुम्हें भूमिका कौन दनुज पथ घेर रहे ?
दो वज्रों का घोष विकट संघात धरा पर जारी है
दहन रेणु चुन स्वप्न सजा लो छिटक रही चिनगारी है ।[1]

कवि उन सभी व्यालों से राष्ट्र को सचेत करना चाहता है जो इस देश को चारों ओर से डस रहे हैं। उसके ये व्याल वे ही हैं जो जमीन्दारों के रूप में किसानों का पूंजीपति के रूप में श्रमिकों का, ब्राह्मणों के रूप में शूद्रों का और विदेशी शासक के रूप में प्रजा का शोषण कर रहे हैं। इन आर्थिक, सामाजिक, और राजनीतिक शोषकों से समाज को जागृत करने के लिए तत्कालीन स्थिति का यथार्थ चित्रण नीचे स्पष्ट है --

उस पुण्य भूमि पर आज तपी, रे आन पड़ा संकट कराल
व्याकुल तेरे सुत तड़प रहे, डस रहे चतुर्दिक विविध व्याल ।[2]

इस प्रकार दिनकर और इकबाल दोनों ने युग एवं परिवेश की आवश्यकता को समझा और उस समय किसानों और मजदूरों की दुर्दशा का चित्रण करते हुए उन्हें विद्रोह के लिए उकसाये हैं।

---

1. हुंकार - दिनकर - पृ. 1.
2. - वही - पृ. 70.

4·3·4 इकबाल का जीवन-दर्शन :

4·3·4·1· इकबाल के काव्य में ब्रह्म का स्वरुप :-

इकबाल को धर्म से बहुत लगाव था । वह हर मसले का हल कुरआन में तलाश करते हैं । फिर वे ब्रह्म के अस्तित्व से कैसे इन्कार कर सकते हैं। लेकिन वह मनुष्य के अस्तित्व को कम नहीं समझते । वह यह मानते हैं कि संसार को खुदा ने बनाया, लेकिन इस संसार की सारी रंगीनी मनुष्य के दम से है । अगर मनुष्य न होता तो प्रकृति की सारी रंगीनी बेकार होती । लोहा खुदा ने बनाया है तो लोहे से भिन्न-भिन्न वस्तुएँ इन्सान ने बनायी है । अगर पेड़ खुदा की देन है तो उसकी लकड़ियों से तरह-तरह की वस्तुएँ मनुष्य ने बनायी है । फूल खुदा की देन है, उसकी सुगन्ध को मनुष्य ने समेटा है । हालांकि खुदा के अस्तित्व को तो दिनकर जी की तरह इकबाल भी मानते हैं लेकिन वह कि मनुष्य के अस्तित्व को भी किसी तरह कम नहीं समझते ।

वह ईश्वर को समुन्दर मानते हैं इसीलिये अपने वजूद को लेकर शिकायत भी करते हैं । ईश्वर को कंजूस कहते हैं । क्योंकि मनुष्य जिस हैसियत का हकदार है वह उसे मिली नहीं ।

तेरे शीशे में मय बाकी नहीं है
बता क्या तू मेरा साकी नहीं है
समुन्दर से मिले प्यासे को शबनम
बखीली है यह रज्जाकी नहीं है ।[1]

1· कुलयाते - इकबाल - पृ· 298·

वह ईश्वर के व्यक्तित्व से इन्कार नहीं करते लेकिन उससे अपने भेद को स्पष्ट करने को कहते हैं। इकबाल मनुष्य के छोटे मस्तिष्क को स्वीकार नहीं करना चाहते। वह मनुष्य को फैला देखना चाहते हैं। वह कहते हैं यह सब संसार ईश्वर की ही रचना है। अर्थात इकबाल किसी हालत में अपने व्यक्तित्व को छोटा नहीं बना देखना चाहते। उनका कहना है, वह कतरे को विशाल रूप देना चाहते हैं। अगर वह मोती बने तो वह मोती नायाब मोती हो। वह खुदा से कहते हैं, अपने आपको जाहिर कर या मनुष्य के अस्तित्व का कारण क्या है यह बता।

इकबाल खुदा के अस्तित्व को इन्कार नहीं करते। प्रकृति की रहस्यमयी वस्तुओं को देखकर इकबाल के मन में बार-बार यह ख्याल आता है कि प्रकृति के सुन्दर दृश्य किसके द्वारा संचालित है, इकबाल तो यह भी मानते हैं कि अगर मनुष्य को प्रकृति जैसी वस्तु न मिलती तो उसकी अपनी सारी क्षमता धरी की धरी रह जाती। मनुष्य प्रकृति से बहुत कुछ सीखता है। प्रकृति को देखकर खुदा के प्रति रहस्यमय दृष्टिकोण इकबाल के यहाँ इस प्रकार पाया जाता है।

> "पालता है बीज को मिट्टी की तारीकी में कौन
> कौन दरयाओं की मौजों से उठाता है सहाब
> कौन लाया खींचकर पश्चिम से बादे साज़गार।
> खाक यह किस की है किस का है यह नूरे आफ़ताब
> किस ने भर दी मोतियों से खोशये गन्दुम की जेब
> मौसमों को किस ने सिखलायी है खूये इन्कलाब।"[1]

इकबाल प्रकृति के रहस्य और उससे ब्रह्म के संबंध को जानने के लिये बेचैन दिखायी देते हैं वह भी बार-बार सोचते हैं प्रकृति की रंगीनी क्या है? संसार क्यों बना? इसमें मनुष्य का अस्तित्व क्या है? शायर शबनम से पूछता

---

1. रूहे इकबाल - डॉ. युसूफ हुसैन खान - पृ. 248.

है गुलशन में चिड़ियों की चहचहा हट का उद्देश्य क्या है, सुबह का ठंडी हवा कौन चला रहा है । मनुष्य की आँखें किस की तलाश में भटक रही है ।

4.3.4.2. जगत सम्बन्धी दृष्टिकोण :-

इकबाल ने कहा है --

" यह घड़ी महशर की है तू अरसऐ महशर में है । " [1]

अर्थात जगत का निर्माण शायद मनुष्य के लिये ही किया गया है इसके अलावा भारत के अधिकतर धर्मों में ब्रह्म को सत्य और जगत को मिथ्या बताया गया है ।

इकबाल संसार की विशालता को स्वीकार करते हैं और यही मानते हैं कि खुदा ने मनुष्य को जन्म दिया है । जगत की पूर्ति के लिये मनुष्य को चाहिये कि वह इस संसार में काम करें ......

इकबाल जगत की रंगीनियों में खोना नहीं चाहते बल्कि उससे प्रेरित होकर कर्म में लीन होना चाहते है । वह खुदा से कहते हैं --

" बागे बहिश्त से मुझे हुक्में सफर दिया था क्यों
कारे जहाँ दराज़ है अब मेरा इन्तेजार कर । " [2]

---

1. कुलयाते - इकबाल - पृ० 280.
2. - वही - पृ० 277.

हाँ वह जगत को क्षणभंगुरता पर विश्वास करते हैं और क्यामत पर भी जिस दिन सारे संसार का विनाश हो जाएगा इसीलिए कहते हैं कि क्यामत के दिन मनुष्य को शर्मसार न होना पड़े, इसलिए वह हमेशा अच्छे कर्म को ......

" रोजे हिसाब जब मेरा पेश हो दफ्तरे अमल
आप भी शर्मशार हो मुझको भी शर्मसार कर ।"[1]

4.3.4.3 मानव एवं उसकी महानता संबंधी दृष्टिकोण :-

इकबाल के विचार में मनुष्य का जीवन सुन्दर और मन-मोहक होने के अतिरिक्त संघर्ष से भरा हुआ है । वह निर्माण की भावना से प्रभावित होकर इस कर्म भूमि में कूद पड़ता है और प्रकृति को अनुरूप ढालने के लिए संघर्ष करता है इसके फलस्वरूप प्रकृति के समस्त रूप उसके सामने झुक जाते हैं और जीवन उसके इशारे पर चलता है । यही मनुष्य की आत्मा अथवा खुदी का कमाल है और यही इकबाल के विचार में मानव की महानता का लक्ष्य है । इकबाल की दृष्टि से मनुष्य का आदर्श वह समाज है जिसकी नींव भाईचारे, प्रेम, सबका बराबरी का दर्जा, समाजिक न्याय पर खड़ी है । जिसमें सच बोलने की क्षमता है और जिसका हर मनुष्य आत्म सम्मान की पूंजी से माला-माल होकर मनुष्य की उन्नति के कार्य को पूर्ण करने के बराबर का साझेदार है । वह खुले आकाश में विचारण करता है । उसकी कमंद सितारों पर पड़ती है । वह सितारों के आगे के जगत में कार्यशील रहता है और इस परिस्थितियों में उसे अपने आस-पास यह गीत सुनाई देता है ।

1. कुल्लियाते इकबाल - पृ. 299

उरुजे आदमें खाको से अंजुम सहमें जाते हैं
कि यह टूटा हुआ तारा महेकामिल न बन जाये ।"[1]

अर्थात् आकाश में मनुष्य को ऊँची उडान से सितारे सहमें जा रहे हैं कि यह टूटा हुआ तारा कहीं पूर्ण मासिको चाँद न बन जाय ।

इस प्रकार इकबाल का मनुष्य एक संघर्षशील मनुष्य है जो अपने प्रयोगों और संघर्षशील द्वारा अपना सिक्का संसार के कोने-कोने में फैला सके ।

4 35 दिनकर के काव्य में दर्शन :-

इकबाल की तरह दिनकर ने भी परलौकिकता का विरोध और इहलौकिकता का समर्थन किया । वे कर्मठता को सबसे बड़ा दर्शन मानते थे और यह विश्वास करते थे कि सृष्टि के मूल में कर्म और संघर्ष है । जीवन को वे सतत क्रियाशीलता का ही दूसरा नाम मानते थे । इकबाल की तरह दिनकर भी प्रवृत्ति का मंडन और निवृत्ति का खंडन किया ।

दिनकर भी जगत् को खुदा या ईश्वर को अभिव्यक्ति मानता है । जीवात्मा ईश्वर अंश है, धरती पर मनुष्य ईश्वर के यंत्र के रूप में कार्य करता है, दिनकर ने " उर्वशी " में इसी भावना की व्यंजना की है ।

यह सब उनकी कृपा सृष्टि जिनकी निगूढ़ रचना है
झुके हुए हम धनुष मात्र हैं तनी हुई उस ज्या पर से
किसी और की इच्छाओं के बाण चला करते हैं ।[2]

---

1. कुलयाते - इकबाल - पृ. 174.
2. उर्वशी - दिनकर - पृ. 45.

दिनकर ने प्रकृति के दिव्य रूपान्तर को ही जीवन का अंतिम लक्ष्य स्वीकार किया है । उर्वशी ईश्वर और प्रकृति के प्रति इसी भाव की व्यंजना है । दिनकर ने प्रकृति के परिवर्तन का समर्थन अपने ढंग से किया है ।

भ्रांति नहीं अनुभूति जिसे ईश्वर हम सब कहते हैं
शत्रु प्रकृति का नहीं न उसका प्रतियोगी प्रतिबल है
ईश्वरीय जग भिन्न नहीं है, इस गोचर जगती से
इसी अपावन में अदृश्य वह पावन सना हुआ है ।
परिवर्तन प्रक्रिया प्रकृति की सहज प्रधारा है ।[1]

इकबाल की तरह दिनकर का मनुष्य भी संघर्षशील मनुष्य है जो अपने प्रयोगों और संघर्षशील द्वारा अपना सिक्का संसार के कोने-कोने में फैला सके ।

निष्कर्ष :-

दिनकर और इकबाल की काव्य कृतियों के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि दोनो कवि एवं दार्शनिक हैं । दोनों ने यह संदेश दिया है कि कर्मण्यता, संघर्षशीलता और हृदय पक्ष की महत्ता । दोनों मानवतावाद के पुजारी है । दोनों कवियों ने परस्पर मनुष्य को मनुष्य से प्रेम करने का संदेश दिया है । राष्ट्रीयता भावना सम्बन्धी विचारों में जहां दिनकर ने क्रांति और बलिदान का महत्त्व देता है वहाँ इकबाल ने कर्म से जुड़ा है क्योंकि इकबाल के विचार में कर्म के ही द्वारा भाग्य को उलटा जा सकता है ।

---

1. उर्वशी - दिनकर - पृ. 27.

उ प सं हा र

उपसंहार

शोध प्रबन्ध में प्रस्तुत विवेचन द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है साहित्य सृजन की प्रक्रिया में प्रेरणा, मनोवृत्ति, संवेग, अनुभव, स्मृति, बुद्धि, कल्पना, व्यवहार, व्यक्तित्व आदि की अपनी भूमिकाएँ होती है । युग परिवेश में जिन हलचलों, घटना-चक्रों, भावों, विचारों की प्रधानता रहती है - वे ही कवि के काव्य-सर्जन के प्रेरक तत्व रहते हैं । दिनकर की लगभग प्रत्येक कृति की सर्जना के पीछे किसी न किसी प्रेरकतत्व की प्रेरणा का हाथ रहा । इनकी अधिकांश कृतियाँ युग परिवेश की प्रेरणा की ही उपज हैं। युग की राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव दिनकर पर है ।

दिनकर की रचनाओं में देश-प्रेम, क्रान्ति, विद्रोह की भावधारा और प्रेम-सौन्दर्य की भावधारा प्रारंभ से समानान्तर बहती रही है । उनकी कृतियों में एक ओर जहाँ द्विवेदी युग की स्पष्टता, अतीत के प्रति मोह और राष्ट्र प्रेम की भावनाएँ निहित हैं वही दूसरी ओर छायावादी कवियों का सौन्दर्य प्रेम एवं प्रकृति प्रेम और प्रगतिवादी काव्य का मार्क्स समर्थन, शोषक के प्रति विरक्ति, रूढ़ि विरोध, श्रमिक वर्ग से सहानुभूति, क्रान्ति-प्रेम तथा यथार्थप्रियता आदि भी मिलते हैं । उनकी काव्य चेतना अभाव से भाव, निषेध से स्वीकृति, निवृत्ति से प्रवृत्ति, दिवास्वप्नों से चिन्तन और कल्पना से कर्म की ओर अग्रसर हुई है । बिहार की विद्रोही राष्ट्रीय चेतना के अग्निमय वातावरण में उनके कवि व्यक्तित्व का निर्माण हुआ । माखनलाल चतुर्वेदी. रामनरेश त्रिपाठी, मैथिली शरण गुप्त, नजरूल इस्लाम और मुहम्मद इकबाल की रचनाओं द्वारा उन्हें राष्ट्रीय कविता के संस्कार प्राप्त हुए,

छायावाद के युवक कवियों की रेशमी झिलमिलाहट से भी उनका कल्पनाशील युवा व्यक्तित्व प्रभावित हुए बिना नहीं रहा यही कारण है कि उनकी प्रारंभिक रचनाओं में हमें उनकी काव्य-चेतना के अनेक सूत्र मिलते हैं। विकास की दृष्टि से इन सभी सूत्रों के दो सोपान माने जा सकते हैं। प्रथम, वह स्थिति जब कवि की प्रतिक्रियायें मूलतः भाव परक रही है। इस स्थिति के अन्तर्गत कुरुक्षेत्र के पूर्व लिखी गई प्रायः सभी रचनाएँ रखी जा सकती है। राष्ट्रीय चेतना के काव्य " रेणुका " और " हुँकार " दिनकर की भाव-प्रवणता के ही परिणाम हैं। " द्वन्द्वगीत " और " रसवन्ती " में भी वैयक्तिक भावनात्मक प्रतिक्रियाओं की ही अभिव्यक्ति हुई है। " कुरुक्षेत्र " में वे पहलीबार मुख्य रूप से विचारक और द्रष्टा के रूप में आते हैं और कविता के प्रति उनकी भावनात्मकता बुद्धि से संपुष्ट होकर पाती है, और राष्ट्रीय, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक प्रतिपाद्य के प्रति उनके मूल्य निश्चित और स्थिर हो जाते हैं। कुरुक्षेत्र के अतिरिक्त सामधेनी, बापू, और परशुराम की प्रतीक्षा में भी दिनकर का अग्निमय भाव बुद्धि संपुष्ट है।

दिनकर जी के काव्य में उनकी राष्ट्रीय भावना और राजनीतिक दृष्टिकोण यथार्थ के धरातल पर अवस्थित, व्यवहारिक तथा मानवतावादी जीवनदर्शन से मंडित है। उनकी राजनीति-विषयक मान्यताएँ मुख्यतः समसामयिक परिस्थितियों के परिपार्श्व में प्रतिफलित हुई है। उनका आविर्भाव हिन्दी साहित्य के एक ऐसे मोड पर हुआ, जब सम्पूर्ण विश्व में राजनीति एक नये दौर से गुजर रही थी और भारत की राजनीति में भी उथल-पुथल दिखाई दे रही थी। भारत के वायुमण्डल में विश्व की महान क्रान्तियाँ जैसे फ्रांसीक्रांति औद्योगिक क्रान्ति, रूसी क्रान्ति एवं विश्व के महान चिन्तकों से विलकारियाँ भर रही थी। मार्क्स की आर्थिक क्रान्ति के सिद्धान्तों ने भी विश्व का ढाँचा बदल दिया। इस क्रान्ति ने पूजीवाद

को नींव हिला दी और विश्व में सर्वहारा वर्ग का समर्थन किया। उन्होंने भाग्यवाद को चुनौती दी और पुनः इस शताब्दी में प्रजातन्त्र में लोगों का विश्वास बढ़ा, उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद आदि पर कुठाराघात होने लगा। विश्व की इस राजनीति का प्रभाव लोकचेतना पर भी पड़ना स्वाभाविक था। इन सब स्थितियों में कोई भी जीवन्त जाति और साहित्य अछूता नहीं रह सका। दिनकर काव्य में विश्व राजनीति और भारतीय राजनीति की चेतना पूर्ण रूपेण उभरी है। युग की इस पुकार और उसके आवश्यक प्रभावों से वे भी अछूते नहीं रहे हैं। उनका परिवेश उन्हें जिस तरह से प्रभावित कर रहा था, उसकी अभिव्यक्ति उनके काव्य में होना स्वाभाविक था।

अपनी राष्ट्रीयता के सन्दर्भ में कवि ने चक्रवाल की भूमिका में लिखा है, राष्ट्रीयता मेरे व्यक्तित्व के भीतर से नहीं जन्मी, उसने बाहर से आकर मुझे आक्रांत किया। उस समय सारा देश उत्साह से उच्छल और दासता की पीड़ा से बेचैन था। अपने समय की धड़कन सुनने को जब मैं देश के हृदय से कान लगाता, मेरे कान में किसी बम के धड़ाके की आवाज आती, फाँसी पर झूलने वाले किसी नौजवान की निर्भीक पुकार आती अथवा मुझे दर्द भरी ऐंठन की वह आवाज सुनाई देती, जो गाँधीजी के हृदय में चल रही थी, जो उन सभी राष्ट्रनायकों के हृदय में चल रही थी, जिससे बढ़कर मैं और किसी को श्रद्धेय नहीं समझता था।"

दिनकर की कविताओं में राष्ट्रीय चेतना क्रांति एवं विद्रोह के स्वर में अभिव्यक्त हुई है। उनके " रेणुका ", " हुंकार ", " कुरुक्षेत्र " और " " सामधेनी " "परशुराम की प्रतीक्षा" रचनाएँ ओजस्विता और देशप्रेम से ओत-प्रोत है। काव्यारम्भ में ही कवि द्वारा भारत में ब्रिटिश शासन के विरोध के साथ-साथ, सम्पूर्ण विश्व को साम्राज्यवाद के पाशविक और क्रूर पंजों से

मुक्त कराने के लिए क्रान्ति एवं विद्रोह का सहारा लिया। अंग्रेजी शासन के अमानुषिक अत्याचारों के चक्र में पिसती हुई भारतीय जनता की दीन-हीन एवं करुण-मार्मिक स्थिति को देखकर कवि द्वारा अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह के आह्वान के मूल में भी कवि की मानवीय संवेदनाएँ निहित हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए अहिंसात्मक आन्दोलनों के साथ-साथ हिंसात्मक आन्दोलनों का भी समर्थन राजनीति के सन्दर्भ में कवि के यथार्थ परक व्यवहारिक दृष्टिकोण को सिद्ध करता है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरान्त भी देश में पनपने वाले भ्रष्टाचारों के विरुद्ध विद्रोह की भावनाएँ कवि के स्वस्थ राजनीतिक दृष्टिकोण की द्योतक हैं। पाकिस्तान की भारत-विरोधी नीतियों एवं चीनी आक्रमण के सन्दर्भ में व्यक्त कवि के विचारों में उनकी कूटनीतिज्ञता एवं समयानुकूल व्यवहारिक जीवन दर्शन को अभिव्यक्ति मिली है। इस प्रसंग में उन्होंने हिंसा एवं प्रतिशोध को स्वीकार कर इस सिद्धान्त की पुनर्प्रतिष्ठा की है कि यदि अहिंसा मानवता का परम धर्म है तो हिंसा भी आपद्धर्म के रूप में अनिवार्य है। वस्तुतः उनके काव्य में हिंसा का प्रतिपादन विश्व में मानवीय मूल्यों की स्थापनार्थ ही हुआ है। इस प्रकार दिनकर अपने काव्य में संकुचित राष्ट्रीयता के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीयता, विश्व-बन्धुत्व, विश्व-प्रेम, एवं विश्व-कल्याण का सर्वोपरि स्थान देकर निश्चय ही उन्होंने स्वयं को मानवतावादी जीवन-दर्शन का पोषक कवि सिद्ध कर दिया है।

दिनकर मूलतः स्वच्छन्दतावादी कवि हैं। उनके प्रारम्भिक काव्य " रेणुका ", " रसवन्ती ", " हुंकार " और " द्वन्द्वगीत " में छायावाद की रोमांटिकता, कल्पनाशीलता, विराट प्रकृति के प्रति जिज्ञासा एवं आकर्षण, राष्ट्रीयता, नसपेत्थानवादी भावना, वेदना, कुंठा और पलायन-सभी तत्व विद्यमान हैं। उनके काव्य की मूल चेतना तीन धाराओं में बही है - प्रेम,

कल्पना और सौन्दर्य से युक्त श्रृंगार भावना, ओज से युक्त राष्ट्रीयता और शांत या निर्वेद का भाव । इन सबके बीज स्वच्छन्दतावाद में ही विद्यामन थे और दिनकर की रचनाओं में भी ये तत्व हैं। यहाँ दिनकर पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर का प्रभाव पड़ा तथा साथ ही साथ उन्होंने युग की अभिव्यक्ति भी की है ।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की तरह उनमें सौन्दर्य का प्रेम है और क्रान्तिकारी सामाजिक चेतना है । उनका सौन्दर्य प्रेम व्यक्त हुआ है "रसवन्ती", "द्वन्द्वगीत", "नीलकुसुम" की कविताएँ और उर्वशी है । उनकी स्वच्छन्दतावादी क्रांतिकारी चेतना व्यक्त हुई है । "हुँकार", "सामधेनी", "कुरुक्षेत्र", परशुराम की प्रतीक्षा", "सौन्दर्य प्रेम, "क्रांतिकारी भावना ये विरोधी चीजे नहीं है । राष्ट्रकवि एक ओर सौन्दर्य पर रीझने वाले हैं दूसरी ओर उसमें सामाजिक चेतना क्रांतिकारी भी होती है। यह चीज दिनकर में भी है और रवीन्द्रनाथ ठाकुर में भी है । दोनों ही प्रकृति के कवि है । अन्तर इतना ही है दिनकर में राष्ट्रीयता की भावना रवीन्द्रनाथ की अपेक्षा अधिक है । रवीन्द्र में अन्तर्राष्ट्रीयतत्व बहुत अधिक है । दिनकर में राष्ट्रीयता तत्व अधिक है । लेकिन ये विषय वस्तु का अन्तर है । बुनियादी तौर से रवीन्द्र भी स्वच्छन्दतावादी कवि है और दिनकर भी ।

छायावाद युग में पुनरुत्थानवादी भावनाओं से प्रेरित होकर नारी को देखने की जो दृष्टि बनी थी वह दिनकर काव्य में भी है और नारी उन्हें सौन्दर्य, श्रृंगार, प्रेम, पावनता की प्रतिमा-सी प्रतीत होती है । इस अर्थ में उनमें पंत, प्रसाद, और निराला से साम्य भी दिखलाई पड़ता है । इन गुणों के अतिरिक्त स्वच्छदतावाद का पौरुष, उसकी दार्शनिकता, उसकी चित्रात्मकता, क्रांति की भावना आदि को भी उन्होंने ग्रहण किया है । इस प्रकार दिनकर के प्रारंभिक काव्यों में ही नहीं, वरन् उर्वशी तक में स्वच्छन्दतावाद का स्पष्ट भाव देखा जा सकता है ।

उनके काव्य के दार्शनिक पक्ष पर विचार करते समय हमारी दृष्टि तीन मूल बिन्दुओं पर स्थित होती है, जहाँ तीन रूपों में उनके द्वन्द्व उनके दर्शन में सर्वाधिक प्रमुख स्थान रखता है। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में इन दो विचारकों ने विश्व जीवन को बहुत अधिक प्रभावित किया है जिसमें एकने साम्यवाद की स्थापना को मानव समाज के विकास के लिए आवश्यक माना और उसके लिए बौद्धिकता का सहारा लिया, रक्त क्रांति के सिद्धांत पर जोर डाला। इस सिद्धान्त ने धर्म और भाग्यवाद की भी वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की। किन्तु दूसरी ओर गांधी का दर्शन है जो धर्म और वैयक्तिक उत्थान एवं समाजवाद को मानवीय जीवन के विकास के लिए भी सत्य और अहिंसा के सिद्धान्त की स्थापना कर और इस विकास के लिए हिंसा और रक्तपात की जगह प्रेम, सौहार्द और मानवीय करुणा एवं एकता को महत्व दिया।

हृदय परिवर्तन के द्वारा सामाजिक परिवर्तन की माँग की जिससे मानव विनाश और संत्रास की अपेक्षा निरापद ढंग से विकास की ओर बढ़े। यही पर दिनकर में तिलक के "गीता रहस्य"का भी प्रभाव दिखाई पड़ता है और इकबाल के खुदी के सिद्धांत का भी। इकबाल साहित्य और राजनीति सभी में व्यक्तित्व के विकास के उस पक्ष को महत्व देते दिखलाई पड़ते हैं जिसकी स्थापना नीत्से ने की थी। अर्थात् मनुष्य को बाज बनकर जीना चाहिये कबूतर बनकर नहीं। यही भावना "कुरुक्षेत्र", "रश्मिरथी" एवं "परशुराम की प्रतीक्षा" जैसे काव्यों में व्यक्त हुई है। यह उनके मध्यकालीन प्रौढ़ काव्यों का मूलस्वर है, यद्यपि द्वन्द्व की अभिव्यक्ति भी स्पष्ट है पर उनके इन काव्यों में मार्क्स और इकबाल का प्रभाव अधिक मुखर है।

दिनकर पर स्वामी विवेकानन्द का भी प्रभाव पड़ा है। विवेकानन्द ने भारतवासियों को जो उपदेश दिया, वह केवल धर्म के लिए नहीं था, प्रत्युत ४ उन्होंने यहाँ के लोगों में असन्तोष जगाना चाहा ४, उन्हें कर्म की भावना से आन्दोलित करने की चेष्टा की तथा शताब्दियों से आती हुई निवृत्ति की विषैली जंजीरों से मुक्त करके उन्होंने भारतवासियों को प्रवृत्ति के कर्म-मार्ग पर आरूढ़ करने का प्रयास किया। इस सन्दर्भ में स्वामी विवेकानन्द और लोकमान्य तिलक ने वेदान्त और गीता की ही नयी व्याख्या करके यह प्रतिपादित किया है कि भारतीय वैदिक धर्म का मूल उपदेश निवृत्ति नहीं और प्रवृत्ति है। इसके साथ विवेकानन्द की मानवतावादी जीवन दर्शन भी दिनकर के काव्य में परिलक्षित होता है। विवेकानन्द की तरह दिनकर जी ने प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्गों में से प्रवृत्ति को ही मानव जीवन के लिए श्रेयस्कर स्वीकार किया है और कर्म के साथ मानव का अविच्छिन्न संबंध बतलाते हुए मानव जीवन में उसकी उपयोगिता पर प्रकाश डाला है। " रश्मिरथी " का कर्ण जिन निर्भ्रान्ति सशक्त शब्दों में भाग्यवाद का खण्डन करते हुए कर्मवाद का मण्डन करता है उनमें निस्सन्देह कवि के कर्मवादी जीवन दर्शन पर स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव है। दिनकर के " कुरुक्षेत्र " और " रेणुका " में विवेकानन्द की मानवतावादी स्वर आद्यंत मुखर रहा है। " कुरुक्षेत्र " में कवि की आशावादी कर्ममय जीवन के प्रति आस्था निरन्तर विद्यमान रही है। " रेणुका " में ही कवि समाज में पारस्परिक स्नेह धार्मिक ऐक्य तथा पर्याप्त सुख-समृध्दि की मंगल कामना व्यक्त करते हैं।

कवि दिनकर काव्य के दार्शनिक पक्ष का दूसरा द्वन्द्व अरविन्द, रसेल, लारेंस एवं उन पाश्चात्य दार्शनिकों में है जिन्होंने जीवन को बौध्दिक आधार प्रदान किया है। दिनकर बरट्रेण्ड रसेल के अधिक निकट हैं, जो यह विश्वास करते हैं कि दृश्य जगत् ही सब कुछ नहीं है, वरन दृश्य जगत से परे भी सत्य का

वास है और मानव अपने आत्मिक उत्थान के द्वारा उस जगत में प्रवेश कर सकता है एवं मानव सभ्यता के विकास में सहायक हो सकता है ।

अरविन्द ने पदार्थ और आत्मा दोनों के विकास और स्वस्थता पर बल दिया । उन्होंने योग औ भोग, दोनों की आवश्यकता और उपयोगिता पर बल दिया । उनका समस्त दर्शन, समस्त योग उस ईश्वर प्रेमी का योग है जो ईश्वर की सृष्टि को निश्चेतन के अंधकार से अतिमानस के प्रकाश, अज्ञान से पूर्ण ज्ञान, दु:ख से आनन्द, मृत्यु से अमरता की ओर ले जाना चाहता है । वे जिस आनंदवाद के स्वर से अपने दर्शन को युक्त कर देते हैं वह आज के विषण्ण जीवन में प्राण संचार करेगा, इसमें सन्देह नहीं है ।

अरविन्द दर्शन तथा दिनकर जी के जीवन दर्शन के मूलस्रोत वैदिक दर्शन एवं पाश्चात्य आध्यात्मिक दर्शन है । " कुरुक्षेत्र " में अभिव्यक्त दिनकर का मानव की शक्तियों में विश्वास जीवन से भागकर नहीं जीवन में रहकर जीवनोन्नति की प्रतिष्ठा, कर्म द्वारा भाग्य को भी बदल देने की भावना वैयक्तिक मोक्ष की अपेक्षा सामूहिक आत्मोन्नति में विश्वास, निर्वाण प्राप्ति की अपेक्षा आत्मा के आवरण शरीर आदि को आत्मज्योति से प्रकाशित करने की भावना जीवन की अमरता में श्रद्धा आध्यात्मिकता और भौतिकता का समन्वय, मानव बौद्धिक एवं रागात्मक प्रवृत्तियों में सामंजस्य की आवश्यकता, अहंकार का त्याग और ईश्वरेच्छा का अनुगमन, निवृत्ति पर प्रवृत्ति की विजय आदि ऐसे तत्व है जो अरविन्द दर्शन के समानांतर है । फलत: कहा जा सकता है कि सुमित्रानन्दन पंत की तरह दिनकर ने श्री अरविन्द से प्रभावित होकर किसी जीवन दर्शन को नहीं गढ़ा है, पर आंशिक रूप से उनकी कवितायें और उनके काव्य सिद्धान्त अरविन्द से प्रभावित रहे हैं ।

दिनकर के काव्य में तीसरी मूल चेतना भारतीय सिद्ध और शाक्त सम्प्रदाय के साथ पाश्चात्य मनोविज्ञान का समावेश करना है । आज के युग को फ्रायड और युग के मनोविज्ञान ने बहुत प्रभावित किया है और काम का यह दर्शन भारतीय वैष्णव शाक्त मत के बहुत निकट है । उनकी यही चेतना कामाध्यात्म का आधार लेकर " उर्वशी " में व्यक्त हुई है । यहाँ दिनकर का काम चिन्तन लॉरेंस और रसैल से भी प्रभावित है । उर्वशी में दिनकर का यह उद्देश्य रहा है कि पश्चिमी मान्यताओं पर भारतीय शास्त्रीयता की मुहर लगाकर प्रामाणिक बनाना । यह दूसरी बात है कि यह दृष्टिकोण हमारी नैतिकता द्वारा अग्राह्य है । लेकिन यह भी सही है कि पुरूरवा और औशीनारी के असन्तुष्ट दाम्पत्य में घुटते रहने से अच्छा है कि उससे मुक्ति लेकर एक नया जीवन होने का प्रयास किया जाये । आज के शिक्षित भारतीय समाज की गम्भीरता पूर्वक दाम्पत्य सम्बन्धों के विषय में सोचता है, वह पुरूरवा जैसा आचरण भले ही न करे लेकिन वह असफल दाम्पत्य सम्बन्धों का विवशता पूर्वक ढोने के लिए तैयार नहीं है । अन्त में यह कह सकता है कि दिनकर के मानस में कुंठित काम वृद्धि के विषय में जो द्वन्द्व विद्यमान था, वह निस्सन्देह लॉरेन्स के " वोमन इन लव " शीर्षक उपन्यास एवं उनकी कविताओं और लेखों से यह प्रेरणा पाकर शान्त हुआ है ।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि राष्ट्रकवि दिनकर के काव्य के प्रेरक स्रोत अनेक हैं । महात्मा गाँधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, स्वामी विवेकानन्द, अरविन्द, नजरूल इस्लाम से लेकर डी॰एच॰लारेन्स तक से वे प्रभावित और प्रेरित हैं ।

परिशिष्ट

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थ सूची

कवि दिनकर के काव्य (आलोच्य आधार ग्रन्थ)

एवं उनकी प्रकाशन तिथि

	ग्रन्थ का नाम	प्रकाशन स्थान	प्रकाशन काल
	1	2	3
1.	आत्मा की आँखें (काव्य)	उदयाचल प्रकाशन, पटना - 4	तृतीय संस्करण 1964
2.	इतिहास का आँसू (काव्य)	उदयाचल प्रकाशन, पटना - 4	द्वितीय संस्करण 1955
3.	उर्वशी (काव्य-नाट्य)	चक्रपाल प्रकाशन, पटना - 4	द्वितीय संस्करण 1964
4.	कुरुक्षेत्र (खण्ड काव्य)	उदयाचल प्रकाशन पटना - 4	उन्नीसवाँ संस्करण 1970
5.	कोयल और कवित्व (काव्य)	उदयाचल प्रकाशन पटना - 4	तृतीय संस्करण 1964
6.	चक्रवाल (काव्य संग्रह)	उदयाचल प्रकाशन पटना - 4	प्रथम संस्करण 1956
7.	धूप और धुँआ (काव्य)	श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड पटना - 4	संस्करण अनुल्लिखित 1951
8.	धूप छाँह (बाल साहित्य)	उदयाचल प्रकाशन, पटना - 4	पंचम संस्करण 1964
9.	दिल्ली (काव्य)	चक्रपाल प्रकाशन, पटना - 4	चतुर्थ संस्करण 1964

1	2	3
10· द्वन्द्वगीत (रुबाइयाँ)	उदयाचल प्रकाशन, पटना - 4	द्वितीय संस्करण (परिवर्द्धित संस्करण) 1959
11· नीम के पत्ते (काव्य)	उदयाचल प्रकाशन, पटना - 4	तृतीय संस्करण 1963
12· नये सुभाषित	उदयाचल प्रकाशन, पटना - 4	प्रथम संस्करण 1967
13· नील कुसुम (काव्य)	उदयाचल प्रकाशन, पटना - 4	तृतीय संस्करण 1960
14· परशुराम की प्रतीक्षा	उदयाचल प्रकाशन पटना - 4	तृतीय संस्करण 1966
15· रसवन्ती (काव्य)	उदयाचल प्रकाशन पटना - 4	दवा संस्करण 1955
16· रेणुका (काव्य)	श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड पटना - 4	प्रथम संस्करण 1935
17· रश्मि लोक (काव्य)	स्टार पब्लिकेशन, नई दिल्ली - 1	प्रथम संस्करण 1974
18· सामधेनी (काट (काव्य संग्रह)	उदयाचल प्रकाशन, पटना - 4	
19· सीपी और शंख (काव्य संग्रह)	उदयाचल प्रकाशन, पटना-4	द्वितीय संस्करण 1966
20· हुंकार (काव्य)	श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना - 4	प्रथम संस्करण 1955

दिनकर के काव्य ग्रन्थ

1	2	3
1. अर्धनारीश्वर (निबन्ध संग्रह)	उदयाचल प्रकाशन, पटना - 4	आमुख - सं. 1952
2. आधुनिक बोध	हिन्दी बुक सेंटर, नई दिल्ली	प्रथम संस्करण 1973
3. काव्य की भूमिका (आलोचना)	उदयाचल प्रकाशन, पटना - 4	प्रथम संस्करण 1958
4. चेतना की शिक्षा	उदयाचल प्रकाशन, पटना - 4	प्रथम संस्करण 1973
5. दिनकर की सूक्तियाँ	उदयाचल प्रकाशन, पटना - 4	प्रथम संस्करण 1965
6. दिनकर की डायरी	उदयाचल प्रकाशन, पटना - 4	प्रथम संस्करण 1973
7. धर्म, नैतिकता और विज्ञान	उदयाचल प्रकाशन, पटना - 4	प्रथम संस्करण 1956
8. पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त	उदयाचल प्रकाशन, पटना - 4	प्रथम संस्करण 1958
9. मिट्टी की ओर (आलोचना)	उदयाचल प्रकाशन, पटना - 4	निवेदन, 1946
10. मेरी यात्राएँ	उदयाचल प्रकाशन, पटना - 4	प्रथम संस्करण 1971

1	2	3
11• राष्ट्र भाषा और राष्ट्रीय एकता	उदयाचल प्रकाशन, पटना – 4	प्रथम संस्करण 1955
12• रेती के फूल	उदयाचल प्रकाशन पटना – 4	द्वितीय संस्करण 1965
13• वेणुवन (निबन्ध संग्रह)	उदयाचल प्रकाशन, पटना – 4	प्रथम संस्करण 1958
14• शुद्ध कविता की खोज	उदयाचल प्रकाशन, पटना – 1	प्रथम संस्करण 1966
15• संस्कृति के चार अध्याय	उदयाचल प्रकाशन, पटना – 1	आवृत्तियाँ जनवरी – 1988
16• संस्मरण और श्रद्धांजलियाँ	उदयाचाल प्रकाशन, पटना – 1	प्रथम संस्करण 1970
17• हमारी सांस्कृतिक एकता	उदयाचल प्रकाशन, पटना – 1	प्रथम संस्करण 1954

दिनकर जी का बालोपयोगी काव्य एवं गद्य

1•	धूप-छाँह	उदयाचल प्रकाशन, पटना	प्रथम संस्करण, 1947
2•	मिर्च का मज़ा	उदयाचल प्रकाशन, पटना	प्रथम संस्करण, 1951
3•	भारत की सांस्कृतिक कहानी (गद्य)	उदयाचल प्रकाशन, पटना	प्रथम संस्करण, 1955
4•	सूरज का ब्याह	उदयाचल प्रकाशन, पटना	प्रथम संस्करण, 1955

सहायक ग्रन्थों की सूची

दिनकर सम्बन्धी आलोचनात्मक एवं शोध प्रबन्ध

1.	उर्वशी : उपलब्धि और सीमा	प्रो. विजेन्द्रनारायण सिंह	परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद	द्वितीय संस्करण 1967
2.	उर्वशी : विचार और विश्लेषण	सं. वचनदेव कुमार	बिहारी ग्रन्थ कुटीर, पटना-4	प्र. संस्करण 1968
3.	उर्वशी : संवेदना और शिल्प	डॉ. टीकाराम शर्मा डॉ. सुशीला शर्मा	वाणी प्रकाशन, दिल्ली - 7	प्र. संस्करण 1976
4.	उर्वशी : एक नवीन दृष्टि	सतीश कुमार भार्गव	दिनमन प्रकाशन, दिल्ली - 6	प्र. संस्करण 1978
5.	उर्वशी : कामुकी और चिन्तन	डॉ. अरविन्द पाण्डेय	विद्याविहार कानपुर - 3	प्र. संस्करण 1982
6.	दिनकर की उर्वशी	डॉ. राजनारायण राय	कैपिटल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-6	प्र. संस्करण 1982
7.	आधुनिकता के हाशिए में उर्वशी	डॉ. जयसिंह नीरद	साहित्य भारती दिल्ली - 51	प्र. संस्करण 1977
8.	महाकवि दिनकर : उर्वशी तथा अन्य कृतियाँ	डॉ. विमल कुमार जैन	एस. चान्द एण्ड कम्पनी, लिमिटेड नई दिल्ली - 55	प्र. संस्करण 1965

1		2	3	4
9•	दिनकर	प्रो•शिवबालक राय	यूनिवर्सल प्रेस, प्रयाग	
10•	दिनकर	डॉ•सावित्री सिन्हा	राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली	द्वि•संस्करण 1970
11•	दिनकर : एक पुनर्मूल्यांकन	प्रो•विजेन्द्रनारायण सिंह	परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद	प्र•संस्करण 1965
12•	युगचारण दिनकर	डॉ•सावित्री सिन्हा	नेशनल पब्लिशिंग, हाउस, दिल्ली	प्र•संस्करण 1963
13•	युगचेतना दिनकर और उनकी उर्वशी	डॉ•राजपाल शर्मा	हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली-6	प्र•संस्करण 1972
14•	दिनकर - काव्य कला और दर्शन	डॉ•प्रतिमा जैन	ग्रन्थम प्रकाशन, कानपुर - 12	प्र•संस्करण 1980
15•	दिनकर के काव्य	डॉ•शारदा जौहरी	राज्यश्री प्रकाशन, मथुरा - 1	प्र•संस्करण 1979
16•	दिनकर का काव्य	डॉ• द्वारिका प्रसाद सक्सेना	दि मैकमिलन कम्पनी आफ इण्डिया लिमिटेड दिल्ली - 32•	प्र•संस्करण 1979
17•	दिनकर : वैचारिक क्रांति के परिवेश में	डॉ•आदेश्वर राव	वाणी प्रकाशन, दिल्ली - 7	प्र•संस्करण 1976
18•	दिनकर के काव्य में क्रान्तिमत चेतना	निधि भार्गव	कविता प्रकाशन, बीकानेर	प्र•संस्करण 1979

	1	2	3	4
19.	दिनकर के काव्य में जीवन दर्शन	डॉ. विनोदबाला शर्मा	सामयिक प्रकाशन नई दिल्ली	प्र. संस्करण 1986
20.	दिनकर के काव्य में राष्ट्रीय भावना	सुनीति	लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा-3	प्र. संस्करण 1967
21.	दिनकर की वीर काव्य	धर्मपाल सिंह आर्य	अभिनव प्रकाशन, दिल्ली	प्र. संस्करण 1975
22.	दिग्भ्रमित राष्ट्र कवि	कामेश्वर शर्मा	सुलेमानी प्रेस, बनारस	प्र. संस्करण 1951
23.	रामधारि सिंह दिनकर	मन्मथनाथ गुप्त	राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली	प्र. संस्करण 1961
24.	राष्ट्र कवि दिनकर	सं. गोपाल राय	ग्रन्थ निकेतन, पटना	प्र. संस्करण 1975
25.	राष्ट्रकवि दिनकर और उनकी काव्य कला	डॉ. शेखर चन्द्र जैन	जयपुर पुस्तक सदन, जयपुर	प्र. संस्करण 1976
26.	राष्ट्रकवि दिनकर और उनकी साहित्य साधना	स. प्रतापचन्द्र जैन	समीक्षा लोक, आगरा	प्र. संस्करण 1976
27.	दिनकर के काव्य में परम्परा और आधुनिकता	डॉ. जयसिंह नीरद	अनुराधा प्रकाशन, मेरठ	प्र. संस्करण 1984

1	2	3	4
28· दिनकर की काव्य भाषा	डॉ·यतीन्द्रनाथ तिवारी	पुस्तक संस्थान, कानपुर-12	प्र·संस्करण 1976
29· साहित्य के सिद्धान्त और कुरुक्षेत्र	प्रो·शिवबालक राय	ज्ञानदा प्रकाशन, पटना	प्र·संस्करण 1962
30· आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि	रामधारी सिंह दिनकर मन्मथनाथ गुप्त	राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली-66	प्र·संस्करण
31· कुरुक्षेत्र मीमांसा	क्रान्तिमोहन शर्मा	साहित्य प्रकाशन, मंडल	प्र·संस्करण 1958

अन्य सहायक ग्रन्थ

1·	अग्निसेतु (नजरुल की जीवनी)	विष्णुचन्द्र शर्मा	प्रासंगिक प्रकाशन, नई दिल्ली-27	प्र·संस्करण 1976
2·	अग्रज काव्य की संस्तुति में	डॉ·विजेन्द्रनारायण सिंह	परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद-2	प्र·संस्करण 1984
3·	आधुनिक साहित्य	नन्द दुलारे वाजपेयी	भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद	प्र·संस्करण
4·	आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार	डॉ·हजारी प्रसाद द्विवेदी	अतरचंद कपूर एण्ड सन्स, दिल्ली	प्र·संस्करण
5·	आधुनिक हिन्दी काव्य में यथार्थवाद	डॉ·परशुराम शुक्ल "विरही"	ग्रन्थम प्रकाशन, कानपुर - 12	प्र·संस्करण 1976

1		2	3	4
6.	आधुनिक हिन्दी कवियों की काव्य कला	सं. प्रेमधनारायण टंडन	हिन्दी साहित्य भंडार, लखनऊ	प्र. संस्करण 1961
7.	आधुनिक हिन्दी काव्य में रूप विधाएँ	डॉ. निर्मला जैन	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली	प्र. संस्करण 1963
8.	आधुनिक हिन्दी कविता में महाभारत के कुछ पात्र	डॉ. पुष्पपाल सिंह	अमित प्रकाशन, गाजियाबाद	प्र. संस्करण 1971
9.	आधुनिक प्रतिनिधि हिन्दी काव्य	डॉ. देवी प्रसाद गुप्त	पंचशील प्रकाशन, जयपुर - 3	प्र. संस्करण 1971
10.	आधुनिक हिन्दी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ	डॉ. नगेन्द्र	गौतमी बुक डिपो, दिल्ली	प्र. संस्करण 1951
11.	आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में दार्शनिक अनुचिन्तन	डॉ. देवदत्त शर्मा	कृष्ण, जनसेवी एण्ड को, बीकानेर	प्र. संस्करण 1980
12.	आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में कामतत्व	डॉ. वीरेन्द्र कुमार वसु	सरस्वती प्रकाशन, कानपुर	प्र. संस्करण 1986
13.	आधुनिक हिन्दी काव्य पर अरविंद दर्शन का प्रभाव	डॉ. कृष्णा शारदा	नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी	प्र. संस्करण

1		2	3	4
14.	आधुनिक हिन्दी काव्य पर गांधी-वाद का प्रभाव	डॉ.जगन्नाथ आर्य	शिल्पी प्रकाशन, इलाहाबाद	प्र.संस्करण 1989
15.	आधुनिक हिन्दी कविता में विचार	डॉ.बलदेव वंशी	मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली	प्र.संस्करण 1982
16.	आधुनिक हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना	डॉ.हरिदामोदर	भारत बुक डिपो, भागलपुर	प्र.संस्करण
17.	आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ	डॉ.नामवर सिंह	लोक भारती प्रकाशन, दिल्ली	प्र.संस्करण 1964
18.	इतिहास और आलोचना	डॉ.नामवर सिंह	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.संस्करण 1978
19.	कामायनी	जयशंकर प्रसाद	भारतीय भंडार लीडर प्रेस, इलाहाबाद	1969
20.	काव्यालोचन की समस्याएँ	प्रो.विजेन्द्रनारायण सिंह	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली - 7	प्र.संस्करण 1985
21.	कविता की मुक्ति	डॉ.नन्दकिशोर नवल	वाणी प्रकाशन, दिल्ली - 7	प्र.संस्करण 1980

1		2	3	4
22·	छायावाद	नामवर सिंह	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	द्वि·संस्करण 1968
23·	छायावाद – उत्थान पतन और पुनर्मूल्यांकन	डॉ·देवराज	कल्पकार प्रकाशन, लखनऊ – 6	प्र·संस्करण 1975
24·	छायावाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि	डॉ·सुषमापाल	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली	प्र·संस्करण 1971
25·	छायावाद : प्रगतिवाद (राष्ट्रीय काव्यधारा)	डॉ·हरिदामोदर	भारत बुक डिपो, पटना	प्र·संस्करण
26·	छायावाद का समाजशास्त्र	डॉ·शशिमुदीराज	परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद	प्र·संस्करण 1988
27·	निराला और नजरूल	डॉ·उपेन्द्र कुमार शर्मा	भवानी शंकर प्रकाशन, भिवानी	प्र·संस्करण
28·	प्रगतिवाद की रूप रेखा	मन्मथनाथ गुप्त	आत्मराम एण्ड सन्स, नई दिल्ली–6	प्र·संस्करण 1972
29·	पाश्चात्य राज्य दर्शन	बी·एम·शर्मा एल·पी·चौधरी	आत्मराम एण्ड संस, नई दिल्ली – 6	
30·	भारतीय दर्शन – एक अनुशीलन	प्रो·वैद्य शर्मा	आर्य प्रकाशन,मण्डल, नई दिल्ली	प्र·संस्करण 1986
31·	भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि	ए·आर·देसाई	मेकमिलन इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली	प्र·संस्करण 1977

1	2	3	4
32• भारतीय काव्य समीक्षा में वक्रोक्ति सिद्धांत	प्रो•विजेन्द्रनारायण सिंह	मेकमिलन इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली	प्र•संस्करण 1984
33• मुक्तिबोध रचनावली	मुक्तिबोध	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र•संस्करण 1980
34• मार्क्सवाद और हिन्दी कविता	डॉ•भक्तराम शर्मा	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली - 7	प्र•संस्करण 1981
35• मार्क्सवाद काव्य शास्त्र की भूमिका	डॉ•माखनलाल शर्मा	प्रेमशील प्रकाशन, दिल्ली	प्र•संस्करण
36• महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण	डॉ•रामविलास शर्मा	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र•संस्करण 1977
37• वक्रोक्ति सिद्धांत और छायावाद	प्रो•विजेन्द्रनारायण सिंह	परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद	प्र•संस्करण 1971
38• हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य	प्रेम शंकर	मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल	द्वि•संस्करण 1980
39• हिन्दी काव्य में मार्क्सवादी चेतना	डॉ•जनेश्वर वर्मा	ग्रन्थम प्रेस, कानपुर - 12	प्र•संस्करण 1974
40• हिन्दी की मार्क्सवादी कविता	डॉ•सम्पत ठाकुर	प्रगति प्रकाशन, आगरा	प्र•संस्करण 1978

	1	2	3	4
41·	हिन्दी की राष्ट्रीय काव्य धरा – एक समग्र अनुशीलन	देवराज शर्मा	इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र·संस्करण 1979
42·	हिन्दी भाषा का इतिहास ﴾द्वितीय भाग﴿	सं·धीरेन्द्र वर्मा	नागरी प्रचारिणी सभा, वारणासी	
43·	हिन्दी साहित्य का इतिहास	डॉ·नगेन्द्र	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली	प्र·संस्करण 1973
44·	हिन्दी साहित्य का इतिहास	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी	2029 वि·
45·	हिन्दी साहित्य का इतिहास ﴾अष्टम भाग﴿	सं·डॉ· विनय मोहन शर्मा	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी	
46·	हिन्दी साहित्य का इतिहास ﴾ नवम भाग ﴿	सं·कमला पात त्रिपाठी	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी	
47·	साहित्य दर्शन	सावी रानी गुट्ट	प्रभात प्रकाशन, दिल्ली – 6	प्र·संस्करण

संस्कृत

1	2	3	4
1· श्रीमद् भगवद्गीता	{सानुवाद}	गीता प्रेस, गोरखपुर	सं· 2044
2· श्रीमद् वाल्मीकीय रामायण		गीता प्रेस, गोरखपुर	सं· 2033
3· श्रीमद भागवत पुराण	{हिन्दी व्याख्या सहित}	गीता प्रेस, गोरखपुर	सं· 2014
4· महाभारत		गीता प्रेस, गोरखपुर	सं. 2030

हिन्दी कोश

1· नालन्दा विशाल शब्द सागर	सं·श्री नवल जी	आदर्श बुक डिपो	प्र·संस्करण 1984
2· हिन्दी साहित्य कोश	सम्पादक, धीरेन्द्र वर्मा	ज्ञान मण्डल लि· वाराणसी	द्वि·संस्करण 1985

हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ

1· गाँधी मार्ग	जनवरी - 1983
2· हरिजन	दिसम्बर - 1938
3· आलोचना	अप्रैल - 15 - 1955
4· अतस्त्व	मई 1994,
5· मधुमती	फरवरी - 1966, अगस्त 1986 सितम्बर - 1992, मई - 1993, दिसम्बर 1994

अंग्रेजी साहित्य

1. Political Theory - Ideas and Institutions - Amal Ray & Mohit Bhattacharya - The World Press (P) Ltd, Calcutta - 73, Ninth Edition-1985.

2. The Indian War of Independence - 1987 - V.D. Savarkar - Rajdhani Granthagar,Delhi-24, Edition-1970.

3. Europe Reconsidered - Tapan Ray Chowdhari - Oxford University Press, 1st Edition-1983.

4. A proper of Lady Chatterjee's over and other essays - D.H.Lawrence - Penguin Books Ltd., England - 1946.

5. Women in Love - D.H.Lawrence - Cambridge University Press, Cambridge.

6. Marriage and Morals - Bertand Russel - G.A.V. Ltd., London - 1958.

7. Aratar and Incarnation - Geoffrey Parrinder - Faber & Faber, London - 1970.

8. Great Treasury of Western thoughts - Ed.Mortiner J Adher - R.K.Bowker Co.,New York - 1977.

9. Happiness and Peace - Shri Aurbindo - Booklet No.27, Aurbindo Ashram Trust, Pondicherry - 1923.

अंग्रेजी शब्दकोश

1. Chambers Twentieth Century Dictionary - Ed. E.M.Krick Patrick - Allied - 1984.

2. Encyclopaedia of Britanica - Chicago - 1982.

3. New Illustrated Columbia Encyclopedia, Colombia University Press, New York.